जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

(जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा)

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : संस्कृतविभाग
शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

पूर्व रीडर : प्राकृत
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.)

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

(जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा)

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : संस्कृतविभाग
शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

पूर्व रीडर : प्राकृत
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.)

ISBN 81 - 902788 - 0 - 0 (Set)
ISBN 81 - 902788 - 1 - 9 (Volume I)

सर्वोदय जैन विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क 1

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

प्रथम खण्ड

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

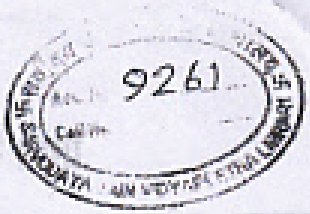

प्रकाशक
सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी
आगरा - 282002, उ०प्र०

लिथोग्राफ : समता प्रेस, भोपाल

मुद्रक : दीप प्रिण्टर्स
70ए, रामा रोड, इंडस्ट्रियल एरिया, कीर्ति नगर, नई दिल्ली-110015
दूरभाष : 09871196002

प्रथम संस्करण : वी० नि० सं० 2535, ई० 2009
प्रतियाँ : 1000
मूल्य : 500 रुपये
सर्वाधिकार : प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

JAINA PARAMPARĀ AURA YĀPANĪYA SAṄGHA
Vol. I
By Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

Published by
Sarvodaya Jaina Vidyāpīṭha
1/205, Professors' Colony
AGRA — 282002, U.P.

First Edition : 1000
Price : Rs. 500
© : Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

१०. संयमसाधनभूत वस्त्रादि के मूर्च्छाहेतुत्व का निषेध २०५
११. कषायादि के हेतु होते हुए भी वस्त्रादि के ग्रहण का निषेध २०६
१२. स्त्री और पुरुषों के ग्रहण का निषेध २०७
१३. परीषहजय के आगमसिद्ध अर्थ का अपलाप २०८
१४. 'वस्त्रधारण' का हास्यास्पद अर्थप्रकल्पन २१०

तृतीय प्रकरण—वस्त्रादि संयम के साधक नहीं, बाधक २१२

१. वस्त्रादिग्रहण देहदुःखोत्पत्त्यर्थ २१२
२. संयमाध्यानादि की सिद्धि परीषहजय से २१७
३. वस्त्रादिग्रहण इष्टराग-अनिष्टद्वेष का फल २१९
४. वस्त्रपात्रादि-परिग्रह मूर्च्छा का फल २२०
५. परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपयोग 'मूर्च्छा' का लक्षण २२१
६. वस्त्रपात्रादि का संग मूर्च्छा का हेतु २२४
७. वस्त्रपात्रादिसंग भय-कषायादि का हेतु २२५
८. वस्त्रपात्रोपयोग निर्जरानिरोधी २२६
९. चेलमात्राक होने से ही तीर्थंकरों द्वारा वस्त्रत्याग २२७
१०. सामान्य मुनियों के लिए भी वस्त्रपात्रादि वेश में बाधक २२९
□ कपोलिकल्पन चक्रपाणिकृत २२९
११. लौकिक वेष और आध्यात्मिक वेष में समानता नहीं २३२
१२. सवस्त्रमुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्रता केवल क्लेश का कारण २३३

चतुर्थ अध्याय

जैनेतर साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा

प्रथम प्रकरण—वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि २३९

१. ऋग्वेद में वातरशन मुनि, वृषभ, शिश्नदेव २४०
२. अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यति और व्रात्य २४८
३. तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण २४९
४. निरुक्त (८०० ई० पू०) में वातम, दिग्वासा, वातरशना २५०
५. महाभारत (५००-१०० ई० पू०) में नग्न क्षपणक २५१
६. जाबालोपनिषत् (४०० ई० पू०) में नग्नक्षपणक २५३

७. पंचतन्त्र (३०० ई०) में नग्नक, क्षपणक, दिगम्बर, धर्मवृद्धि २५८
८. प्राकृत 'अष्टपाहुड' (३०० ई०) में वस्त्ररहित श्रमण २६०
९. मत्स्यपुराण (३०० ई०) में निष्कञ्च, निर्ग्रन्थ, नग्न २६१
१०. विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) में जैन, बोद्धदेवी, ऋषभ, भरत, नग्न, दिगम्बर, बर्हिपिच्छधर, अलेकालवाद २६२
१०.१. भगवान् ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के पाँचवें वंशज २६२
१०.२. दिगम्बरजैनधर्म विष्णुपुराणकार के समय से अतिप्राचीन २६६
११. मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, बौद्धभिक्षुदर्शन २६९
१२. वायुपुराण (५०० ई०) में नग्न, निर्ग्रन्थ २७०
१३. वराहमिहिर-बृहत्संहिता (४९० ई०) में नग्न, दिग्वासस्, निर्ग्रन्थ २७१
१४. उत्तरभारत में 'जैन' नाम से दिगम्बर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध २७२
१५. भागवतपुराण (६०० ई०) में वातरशन श्रमण, नग्न-परिधान २७३
१६. ऋषभदेव का वैदिकधारा पर प्रभाव २७५
१७. जाबालोपनिषद् में दिगम्बरजैन-पुनिधर्मवत् पाशुपतव्रतधर्म २७७
१८. चीन के आद्यप्रचारक भगवान् ऋषभदेव २८१
१९. कादम्बरी-हर्षचरित (७ वीं ८वीं ई०) में क्षपणक, आर्हत, कर्नाटक, बर्हपिच्छधारी २८२
२०. चर्पटी-वैराग्यशतक (७०० ई०) में पाणिपात्र-दिगम्बर २८३
२१. (वैदिक) पद्मपुराण में निर्ग्रन्थ, क्षपणक २८३
२२. कूर्मपुराण (७०० ई०) में निर्ग्रन्थ २८७
२३. ब्रह्माण्डपुराण में नग्न, निर्ग्रन्थ २९०
२४. लिङ्गपुराण में नग्न ऋषभ २९०
२५. न्यायकुसुमाञ्जलि (९८४ ई०) में शिवादित्य, दिगम्बर २९२
२६. न्यायमञ्जरी (१००० ई०) में दिगम्बर २९२
२७. प्रबोधचन्द्रोदय (१०६५ ई०) में विपुलकवास, क्षपणक, दिगम्बर २९३
२८. 'क्षपणक' का अर्थ श्वेताम्बर-जिनलिङ्गी मुनि नहीं २९५
२९. श्वेताम्बरसाधु 'श्वेतपट' या 'शिलाम्बर' नाम से प्रसिद्ध २९७
□ शिवमहापुराण में श्वेताम्बर साधु २९७
३०. 'क्षपणक' शब्द यापनीयसाधु का भी वाचक नहीं ३००
३१. दिगम्बरजैन मुनि और आजीविक साधु में भेद ३०१

३२. आजीविकों का इतिहास ३०४
३३. आजीविक साधु की भी 'क्षपणक' संज्ञा संभव नहीं ३०८
३४. 'निर्ग्रन्थ' शब्द केवल दिगम्बरजैन साधुओं के लिए प्रयुक्त ३०९

द्वितीय प्रकरण—बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि ३१०

१. प्राचीन बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख ३१०
१.१. अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थों की नग्नता का द्योतन ३११
१.२. 'अचेलक' शब्द से श्वेताम्बर मुनियों का उल्लेख ३१३
२. बुद्धचरितीय तथा अन्यतीर्थिकों में भगवान् महावीर ३१४
३. अजातशत्रु के एक मंत्री द्वारा सिग्गवत्थुपुरा की प्रशंसा ३१५
४. बुद्धोत्तर तथा तीर्थिकों में निर्ग्रन्थ के आचार का निरूपण ३१५
५. तीर्थंकर महावीर की 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा क्यों? ३१७
६. अन्यतीर्थिकवत् नग्न रहने का निषेध ३१७
७. नग्नता एवं कुशबीजादि-धारण करने का निषेध ३१८
८. 'एकशाटक' सम्प्रदाय निर्ग्रन्थसम्प्रदाय से भिन्न ३१९
□ 'उदनपोति' का प्रमाण ३१९
९. निर्ग्रन्थों के लिए भी 'अचेलक' शब्द का प्रयोग ३२०
१०. निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार ३२५
११. अचेल कस्सप द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार ३२८
१२. निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक की भी 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा ३३०
□ चुल्लकलिंग-श्रावक ३३४
१३. 'ओदातवसन' का अर्थ श्वेतवस्त्रधारी ३३७
१४. 'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ-श्रमण का नग्नरूप ३३८
१५. पाचित्य-अनुरूप में निर्ग्रन्थ का नग्नरूप ३४०
१६. निर्ग्रन्थ में अवास्तविक आरोप का विरोध ३४२
१७. बौद्धसाहित्य में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं ३४५
१७.१. कुण्डलकेशिवत्थु ३४६
१७.२. पुनि श्री नवलाल जी के भ्रम का कारण ३४९
१८. आर्यशूरकृत 'जातकमाला' में निर्ग्रन्थश्रमण का नग्नरूप ३५१
१९. 'दिव्यावदान' के रचनाकाल में यापनीयों का उदय नहीं ३५२
२०. निर्णायक ३५३

D. 259

पंचम अध्याय

पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण

प्रथम प्रकरण—श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण असंभव ३५९

१. शुभप्रभागच्छ में तीर्थंकरों का नग्नत्व अदृश्य ३५९
२. प्राचीन श्वेताम्बर-जिनप्रतिमाएँ गुह्यांग-रेखा-रहित ३६३
३. श्वेताम्बराणवानुसार नग्न जिनप्रतिमा जिनबिम्ब नहीं ३६८
४. मुनि कल्याणविजय जी : मथुरा की प्राचीन जिन प्रतिमाएँ अनग्न ३६९
५. मथुरा की प्राचीन जिनप्रतिमाएँ नग्न ही हैं ३७१
६. ये श्वेताम्बरपरम्परा की प्रतिमाएँ नहीं हैं ३७१
७. गर्भापहरण की घटना का उल्लेखन ३७३
□ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख : मथुरा की नैगमेश-मूर्तियाँ और कृष्णजन्म ३७३
८. कुल जिनप्रतिमाओं का सम्बन्ध अर्धफालक-सम्प्रदाय से ३७७
९. सातवीं शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरसंघ में अनग्न-अचेल जिनप्रतिमा की पूजा ३८९
९.१. छठवीं शती ई० के पूर्व भी सभी संघों के मन्दिर अलग-अलग थे ३८८
९.२. परस्परविरोधी-मान्यतावालों की एक ही मन्दिर में पूजा-उपासना असंभव ३९२
९.३. पूर्वकाल में श्वेताम्बरों० अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा का पूजक ३९३

द्वितीय प्रकरण—दिगम्बर-जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास ३९४

१. मोहेन-जो-दड़ो की जिनप्रतिमाएँ ३९४
२. हड़प्पा-जिनप्रतिमा ३९८
□ हड़प्पा और जैनधर्म : श्री टी० एन० रामचन्द्रन् ३९९
३. कलिंग-जिनप्रतिमा ४०५

है? यह एक ऐसी विशेष वस्तु से भरा है, जिसे पीकर मुनष्य सच्चा खरा देवता है और निर्ग्रन्थ के समान वस्त्र पहनने के कष्ट से मुक्त होकर जगत्पूज्य रूपों पर सहजसुखी हुए चलता है—

पीत्वोचितापि जहाति यत्फलमात्मलग्नां निर्ग्रन्थवद्वसनसंयमक्लेशमुक्तः।
धीरं चरेत्सविषु पीडाकुलेषु सा पात्रसाधुगणना निहिता कुम्भे॥ १५॥

इस प्रकार चतुर्थ शताब्दी ई० की अर्जुनकृत जलकमाला (बौद्ध ग्रन्थ) में भी निर्ग्रन्थ साधुओं को नग्न ही बतलाया गया है।

११
'दिव्यावदान' के रचनाकाल में यापनीयों का उदय नहीं

मुनि श्री कल्याणविजय जी ने लिखा है—"बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विनयवस्तु, धम्मपद-अट्ठकथा, दिव्यावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, वे ग्रन्थ उस समय के हैं, जब कि यापनीयसंघ और आधुनिक सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे।" (व.भ.भ./पृ.३३०)।

मुनिजी का यह कथन प्रमाणविरुद्ध और अतर्कसंगत है। अट्ठकथाओं का रचनाकाल अवश्य चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० है, किन्तु 'दिव्यावदान' का रचनाकाल विद्वानों ने प्रथम शताब्दी ई० माना है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। पाँचवीं शती ई० के पूर्व किसी भी शिलालेख में और श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरिकृत 'ललितविस्तरा' के पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में यापनीयसंघ का उल्लेख नहीं है। अतः यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता कि 'दिव्यावदान' की रचना के पूर्व अर्थात् ई० प्रथम शताब्दी के पहले यापनीयसम्प्रदाय का उदय हो चुका था। जिस बोटिकसम्प्रदाय को मुनि जी ने यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप माना है, उसका उदय भी वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ई० सन् ८२ में बतलाया गया है, इसलिए प्रथम शताब्दी के पूर्व नहीं। और यह यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप नहीं था, अपितु दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय ही था, यह द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। यापनीयसम्प्रदाय को उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी ई० के प्रारंभ में सिद्ध होती है। अतः मुनि जी द्वारा जो यह अवधारणा पैदा करने की कोशिश की गई है कि "दिव्यावदान" में जिन नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख है, वह यापनीय-सम्प्रदाय के साधुओं का उल्लेख है, दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय के साधुओं का नहीं, सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है। यह अतर्कसंगत भी है, क्योंकि 'यापनीय' और 'निर्ग्रन्थ' भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के नाम हैं, यह पाँचवीं शती ई० के राजा मृगेशवर्मा के हल्सी-अभिलेख (अ.२९) से स्पष्ट है। निर्ग्रन्थों और श्वेतपटों में असली पहचान करने के

लिए 'यापनीय' नाम प्रचलित हुआ था। यदि निर्ग्रन्थों और यापनीयों को अभिन्न मान लिया जायेगा, तो बौद्धसाहित्य में जहाँ-जहाँ 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ-वहाँ उसे 'यापनीय' अर्थ का वाचक मानना होगा। और तब 'निगण्ठनाटपुत्त' (भगवान् महावीर) और 'यापनीयनाटपुत्त' में कोई भेद न रहेगा। भगवान् महावीर भी यापनीय-सम्प्रदाय के सिद्ध होंगे और तब या तो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का अस्तित्व असत्य सिद्ध होगा अथवा यापनीय-सम्प्रदाय का। अतः मुनि जी का कथन मूल पर कुठाराघात करनेवाला है। यह निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के पृथक् अस्तित्व का ही लोप कर देता है। इस प्रकार मुनि जी का यह कथन प्रमाणविरुद्ध एवं तर्कविरुद्ध है कि 'दिव्यावदान' में जिन नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख है वे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नहीं, अपितु यापनीय-सम्प्रदाय के हैं। यतः मुनि जी का कथन प्रमाणविरुद्ध एवं तर्कविरुद्ध है, अतः सिद्ध है कि 'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ (दिगम्बरजैन) सम्प्रदाय के ही नग्नश्रमणों का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार बौद्धों का अट्ठकथा-साहित्य यद्यपि पिटकसाहित्य से अर्वाचीन है, यद्यपि उसमें भी जिन निर्ग्रन्थों (नग्न मुनियों) का उल्लेख है, वे निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के ही हैं, यापनीय-सम्प्रदाय के नहीं, यह भी उपर्युक्त प्रमाण एवं तर्क से सिद्ध होता है।

२०
निष्कर्षसार

इस प्रकार ईस्वीपूर्व-शताब्दियों में रचित ऋग्वेद, महाभारत आदि वैदिकसाहित्य तथा अंगुत्तरनिकाय, पोट्ठपादसुत्त, दीर्घनिकाय, उदानपालि आदि बौद्धसाहित्य में नग्न निर्ग्रन्थ श्रमणों (दिगम्बरजैन मुनियों) की चर्चा होने से सिद्ध है कि श्वेताम्बरमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि की विशेषों दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिकयुग से पूर्ववर्ती, भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती, गौतम बुद्ध से पूर्ववर्ती, ईसा से पूर्ववर्ती, बोटिक शिवभूति से पूर्ववर्ती, यापनीयसंघ से पूर्ववर्ती और आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती है। वह भगवान् ऋषभदेव के युग से अविच्छिन्न चली आ रही है। अतः जैनेतर साहित्य में उपलब्ध इन बाह्य प्रमाणों से भी सिद्ध हो जाता है कि—

१. दिगम्बरमत का प्रवर्तन बोटिक शिवभूति ने ईसा की प्रथम शताब्दी में या कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में किया था, ये दोनों मत कपोलकल्पित हैं।

२. अतः कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत-प्रवर्तक सिद्ध करने के लिए जो बोटिकमत को यापनीयमत बतलाया गया है और कुन्दकुन्द के क्रमशः उसमें दीक्षित होने और

कथा में कहे गये हैं, क्षेत्रिगाथा-अट्ठकथा की कथा में नहीं। 'पेतवत्थु-अट्ठकथा' की कथा में तो यह कहा गया है कि वह (भद्रा) निर्ग्रन्थों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या लेती है—"निगण्ठारामं गन्त्वा निग्गण्ठे पब्बज्जं याचि।" यहाँ 'निगण्ठ' शब्द के साथ 'श्वेतवस्त्र' विशेषण नहीं है, न ही 'आपदान' में वर्णित ३८वीं गाथा में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्रवाले) शब्द के साथ निगण्ठ विशेषण है। इसी प्रकार धम्मपद-अट्ठकथा में वर्णित 'कुण्डलकेसी' घटना से ज्ञातव्य होता है कि भद्रा परिव्राजकों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करती है। इस तरह तीनों कथाओं में भद्रा को परिव्राजक, निर्ग्रन्थ और श्वेतपट, इन तीन अलग-अलग सम्प्रदायों में प्रव्रज्या ग्रहण करते हुए और बाद में उन्हें छोड़कर बौद्धधर्म में प्रव्रजित होते हुए चित्रित किया गया है। इसका प्रयोजन था बौद्धेतर के अतिरिक्त अन्य सभी को हीन सिद्ध करना।

किन्तु मुनि श्री नगराज जी ने 'आपदान' की कथा में वर्णित श्वेतवस्त्र-मुनियों और क्षेत्रिगाथा-अट्ठकथा की कथा में उल्लिखित निर्ग्रन्थ-मुनियों को अभिन्न समझकर यह मान लिया है कि बौद्धसाहित्य में श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थ मुनियों का उल्लेख है। उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि 'वस्त्रधारी' शब्द और 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिग और नग्न के समान परस्परविरुद्धार्थ हैं। पूर्व में जैन, वैदिक और बौद्ध साहित्य, संस्कृतसाहित्य एवं शब्दकोशों से उद्धरण देकर सिद्ध किया गया है कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द ऐकान्तिकरूप से नग्नपुद्गलधर्मी मुनि का वाचक है। तथा कदम्बवंशीय राजा शिवमृगेशवर्मा-विजयपूर्वेश्वरवर्मा का देवगिरि-ताम्रशासन (क्र.१८) इस तथ्य का पक्का सबूत है कि भारतीय इतिहास में 'निर्ग्रन्थ' और 'श्वेतपट' नाम के परस्परभिन्न दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे, क्योंकि ऐतिहासिक प्रसिद्धि के बिना अभिलेखों में उनका भिन्न सम्प्रदायों के रूप में उल्लेख नहीं हो सकता। और जैन राजा शिवमृगेशवर्मा के ताम्रशासन में उनकी भिन्नता का उल्लेख है, वैसा किसी भी अभिलेख एवं भारत के किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में उनके एकत्व का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। अर्थात् जो निर्ग्रन्थ है, उसके श्वेतपट होने का उल्लेख उपलब्ध नहीं है और जो श्वेतपट है, उसके निर्ग्रन्थ होने का उल्लेख अनुपलब्ध है। अतः मुनि श्री नगराज जी की यह धारणा कि बौद्धसाहित्य में श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थ मुनियों का उल्लेख है, इतिहासविरुद्ध धारणा है।

तथा भद्रा को जो 'एकशाटी' विशेषण दिया गया है, वह भी इस बात का प्रमाण है कि भद्रा दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय की आर्यिका पद पर संस्थित हुई थी, क्योंकि दिगम्बर-सम्प्रदाय में ही आर्यिकाओं के लिए केवल एक साड़ी पहनने का नियम है। दिगम्बर-सम्प्रदाय की शुल्लिका भी दो वस्त्रधारण करती है। तथा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आर्यिका का जिनकल्पी होना सिद्ध है, और तब उस सम्प्रदाय के जिनकल्पी

साधु भी एक से तीन तक छोटी-छोटी प्रावरण (चादर) रखते थे तथा स्थविरकल्पी साधु तीन प्रावरणों के अतिरिक्त चोलपट्ट भी धारण करते हैं, तब साध्वियों के केवल एक साड़ी-धारी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने भी लिखा है कि "इनके (श्वेतपटों के) लिए शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार के विशेष वस्त्र रखने हैं, जिससे कि इनकी लज्जा-मर्यादा और शीलसम्पत्ति की रक्षा हो।" (मानव-भोज्य-मीमांसा/पृ.७९२)। अतः एकशाटीधारी भद्राकुण्डलकेसा ऐकान्तिकरूप से नग्न रहनेवाले निर्ग्रन्थों के ही सम्प्रदाय की थी, इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं है। इससे भी सिद्ध है कि क्षेत्रिगाथा-अट्ठकथा की कुण्डलकेसाकथा में केवल लिंग मुनियों का उल्लेख है और आपदान की कुण्डलकेसाकथा में केवल श्वेतवस्त्रधारी मुनियों का। श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख किसी भी कथा में नहीं है।

१८
आर्यशूरकृत जातकमाला में निर्ग्रन्थश्रमण का नग्नरूप

आर्यशूर ने संस्कृत में 'जातकमाला' नामक ग्रन्थ की रचना की है। उनका कालनिर्धारण करते हुए डॉ सूर्यनारायण चौधरी लिखते हैं—"अजन्ता की चित्रों की दीवारों पर जातकमाला के कथानायकों, वैजयन्त, महाहंस, रुरु, शिबि, महाकपि, चदिन आदि जातकों के दृश्य चित्रित हुए हैं और दृश्यचयन के लिए उन जातकों से उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हुए हैं। श्लोकों के अभिलेख की लिपि उसी की है। इससे अनुमान होता है कि ५वीं शती में जातकमाला की ख्याति हो चुकी थी।"[१०३] डॉ० बलदेव उपाध्याय ने भी यही लिखा है और वे आगे कहते हैं—"कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि दोनों आर्यशूर एक ही अभिन्न व्यक्ति हों, तो इनका समय पंचम शतक से पूर्व चतुर्थ शतक में अनुमानसिद्ध माना जा सकता है। अजन्ता की दीवारों में चित्रित होने से भी इनका समय पंचम शतक में निश्चयेन सिद्ध होता है।"[१०४]

आर्यशूर ने जातकमाला में एक कुम्भजातक का वर्णन किया है, जिसमें गौतमबुद्ध अपने एक पूर्वजन्म में देवों के इन्द्र होते हैं। देवेन्द्र होते हुए भी वे मनुष्यों का उपकार करना नहीं छोड़ते। एक बार जब वे मनुष्यलोक का निरीक्षण कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि सर्वमित्र नामक राजा को महादान की लत लग गई है। वे उसे उस लत से मुक्त करना चाहते हैं। इसके लिए वे क्षपणु के वेश में एक घड़ा लेकर राजा की सभा में आते हैं तथा पूछते हैं कि इस सुन्दर घड़े को कौन खरीदना चाहता

१०३. जातकमाला / भूमिका / पृष्ठ ८ / मोतीलाल बनारसीदास / सन् १९८१।
१०४. संस्कृत साहित्य का इतिहास / पृ. २१५।

थेरीगाथा-अट्ठकथा की 'भद्दाकुण्डलकेसा-थेरीगाथा वण्णना' में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात कही है। 'निगंठवत्थु' की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—

"इस घटना-प्रसंग में निगण्ठों के वस्त्रपात्र की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था? पर, इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्धपरम्परा को सचेलक और अचेलक, दोनों ही प्रकार के निगण्ठों का परिचय है।" (आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन/ खं.१/पृ.४३९)।

धम्मपद-अट्ठकथा (८/३) और थेरीगाथा-अट्ठकथा (९) की 'कुण्डलकेसी-थेरीवत्थु' या 'भद्दाकुण्डलकेसा-थेरीगाथा-वण्णना' की समीक्षा में मुनि जी कहते हैं—

"प्रसंग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध को प्रमुख शिष्य का पहले निगंठसंघ में दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केशलुंचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।" (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन/ खण्ड १/पृ.४४०)।

उक्त कथाओं में वस्त्रधारी या श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात सर्वथा मिथ्या है। उनमें निगंठों के वस्त्रधारी होने का कथन कहीं भी नहीं है। धम्मपद-अट्ठकथा की 'निगंठवत्थु' कथा में तो इस तथ्य का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। अन्य दो कथाओं में भी निगण्ठों के साथ 'वस्त्रधारी' विशेषण के अभाव के प्रमाण नीचे दिये जा रहे हैं।

७.१. कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु

इस कथा का वर्णन धम्मपद-अट्ठकथा के आठवें सहस्सवग्ग (सहस्रवाग्वी) में तीसरे क्रम (८/३) पर तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा में नौवें क्रम पर है। दोनों में कथा समान है, केवल सेट्ठिपुत्री भद्रा के दीक्षास्थलादि दोनों में भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं। धम्मपद-अट्ठकथा में वर्णित कथा का सार इस प्रकार है—

कुछ राजपुरुष एक चोर युवक को पकड़कर वधस्थल से जा रहे थे। सेट्ठिपुत्री भद्रा उसे देखकर मोहित हो जाती है और उसके साथ विवाह के लिए माता-पिता से हठ करती है। पिता राजपुरुषों को एक हजार मुद्राएँ देकर चोर को छुड़ा लेता है और उसके साथ पुत्री का विवाह कर देता है। चोर युवक ससुराल में ही रहने लगता है। भद्रा सदा आभूषणों से लदी रहती थी। चोर युवक के मन में विचार आता है कि किसी बहाने उसे चोरप्रपात पर्वत पर ले जाकर मार डाला जाय और आभूषण लेकर भाग जाया जाय। वह भद्रा को पर्वत पर ले जाता है। पर्वत पर पहुँचने पर जब भद्रा को अपने पति के षड्यन्त्र का पता चलता है, तब वह उसे ही पर्वत से धकेलकर मार डालती है और आभूषण वहीं छोड़कर भाग आती है। किन्तु फिर लोकापवाद के भय से घर नहीं जाती और परिव्राजकों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती है। बाद में वह बौद्धधर्म में दीक्षित हो जाती है। वहाँ उसका नाम कुण्डलकेसी रख दिया जाता है। परिव्राजकों के आश्रम में जाकर भद्रा के प्रव्रज्या ग्रहण करने के वृत्तान्त का मूल पाठ नीचे दिया जा रहा है—

"सापि भोगे पहाय सिविकाय निक्खमि, "सत्थारं गेहं गच्छन्तिया, 'सामिको ते कुहिं' ति पुच्छित्वा। सत्थारं एवं पुट्ठा—'मारिसे मे' ति पक्कोसि, 'दुब्बिनीतो सहस्सं दत्वा इं आहरापेत्वा इदानि वं मारेसी' ति मं मुखसंसीहि विञ्झापेन्ति, 'आभरणभण्डं मे नं मारेतुकामो अहोसी' ति वुत्तेपि न सद्दहिस्सन्ति, अलं मे गेहेन' ति तत्थेवापक्कमि। इट्ठिया अत्तनं परिच्चिन्तेत्वा अनुक्कमेन विचरन्ती एकं परिब्बाजकानं अस्समं पत्वा वन्दित्वा—'यक्खं भन्ते, तुम्हाकं सन्तिके पब्बज्जं देथा' ति आह। अथ नं पब्बाजेसुं।" (धम्मप-अट्ठकथा/भा.३/८/३/पृ.३१६)।

अनुवाद—"उसने भी चोर को प्रसन्न करके योजना बनाई कि अब यदि मैं घर लौटती हूँ, तो लोग पूछेंगे कि तुम्हारा स्वामी कहाँ है? यदि मैं कहूँगी कि उसे मैंने मार डाला, तो वे कहेंगे कि दुष्टे! हजार मुद्राएँ देकर जो उसके साथ घर बसाना था, आज उसे भी मार डाला? ऐसा बोलकर वे मुझ पर कटाक्ष करेंगे। यदि मैं कहूँगी कि वह आभूषणों के लिए मुझे मार डालना चाहता था, तो वे मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। इसलिए मेरा घर न जाना ही उचित है। यह सोचकर उसने आभूषण वहीं छोड़ दिये और घर से प्रवेश कर विचरण करती हुई परिव्राजकों के एक आश्रम में पहुँची। वहाँ परिव्राजकों को प्रणाम कर वह बोली—"भन्ते! मुझे अपने धर्म में प्रव्रज्या दीजिए। उन्होंने उसे प्रव्रज्या दे दी।"

थेरीगाथा-अट्ठकथा में यह अंश इस प्रकार है—"सासो भद्दा चिन्तेसि, 'न सक्का मया इमिना निवासेत्वा गेहं गन्तुं, इतोव गन्त्वा एकं पब्बज्जं पब्बजिस्सामी' ति निगण्ठानं सन्तिके पब्बज्जं याचि। अथ नं ते आहंसु 'केन निमन्तेन पब्बज्जा होतू' ति? 'यं तुम्हाकं पब्बज्जाय उत्तमं, तदेव करोमा' ति। ते 'साधू' ति तस्सा तालट्ठिना केसे लुञ्चित्वा पब्बाजेसुं। पुन केसा वड्ढना कुण्डलाकारा हुत्वा पतिंसु। तेनस्सा कुण्डलकेसीति नाम जातं।" (थेरीगाथा-अट्ठकथा / १-भद्दाकुण्डलकेसा थेरीगाथा-वण्णना / पृ.११३)।

अनुवाद—"तब भद्रा ने सोचा कि मैं इस दशा में (पति को हत्या करने के बाद) घर नहीं जा सकती। यहाँ से जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी। यह सोचकर निर्ग्रन्थों के आश्रम में गयी और उनसे प्रव्रज्या की याचना की। वे उससे बोले—"किस नियम

(विधि) से प्रव्रज्या दी जाए?" उसने कहा—"आपको प्रव्रज्या में जो उचित है, वही कीजिए। उन्होंने कहा—"ठीक है" और तालाब से उसके केशों का लुञ्चन कर प्रव्रज्या दे दी। उसके बाद उसके केश बढ़ते हुए कुण्डलाकार (घुँघराले) हो गये। तब से उसका नाम कुण्डलकेसा पड़ गया।"

पुत्र सागर बाद वह गौतम बुद्ध के पास जाकर प्रव्रज्या ले लेती है और अपनी पूर्व प्रव्रज्या को सदोषता का वर्णन करती हुई कहती है—

लुत्तकेसी पडुपते एकसाटी पुरे चरिं।
अवञ्जे वञ्जमतिनी खन्धे चावञ्जदोसिनी॥ १०७॥ थेरीगाथा।

अनुवाद—"मैं पूर्व में केशों का लुंचन कर, मैल धारण कर और एक साड़ी पहनकर निर्दोष को सदोष और सदोष को निर्दोष मानती हुई विचरण करती रही।"

इस पद्य की व्याख्या थेरीगाथा-अट्ठकथा के कर्ता ने इस प्रकार की है—"तत्थ लुत्तकेसीति लुत्त लुञ्चित्वा केसा मत्थलिं लुत्तकेसी, विगतदेसु पब्बज्जाय वालट्ठिना लुञ्चितत्ता केसा, तं वा पन वदति। पडुधरीति दलिद्दपुरिसा अत्थाय (दलिद्दा को य लद्धाने से) दलिद्दसु मल पडुधारणतो पडुधरी। एकसाटीति निगन्थपरिदहनेन एकसाटिका। पुरे चरिन्ति (चरिं इति) पुब्बे निगण्ठी हुत्वा एवं विचरिं। अवञ्जे वञ्जमतिनीति नहापुब्बकाल-दलिद्द-खादनादिके अनवज्जे सावज्जसञ्ञी। खन्धे चावञ्जदोसिनीति गामसञ्च-पत्तादि-विपत्तिसदिसे सावज्जे अनवज्जदस्सिनी।" (थेरीगाथा-अट्ठकथा / १-पद्मकुण्डलकेसा-थेरीपदावण्णना / पृ.११९)।

अनुवाद—"निर्ग्रन्थों की प्रव्रज्या में केशों का लुंचन होता है, उसी को ध्यान में रखकर पद्मा अपने को लुत्तकेसी कहती है। दातौन (दन्तकाष्ठ) न करने के कारण दाँतों में मैल लग जाने से पडुधरी हो गई थी। निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में साध्वी (आर्यिका) के लिए एक ही साड़ी धारण करने का विधान है, इसलिए वह एकसाटी धारण करती थी। पूर्व में निर्ग्रन्थी (आर्यिका) होकर वह इस वेश में विचरण करती थी। स्नान, उबटन (शरीर को रगड़ना), दन्तधावन आदि निर्दोष कार्यों को वह दोषपूर्ण मानती थी और अभिमान, परनिन्दा (चुगली) ईर्ष्या (जलन), वचन पर स्थिर न रहना (विपरीतता) आदि दोषपूर्ण कार्यों को निर्दोष समझती थी।"

इनमें से प्रथम कथा में तो यह कहा गया है कि पद्मा कुण्डलकेसी ने परिव्राजकों से प्रव्रज्या ग्रहण की थी, निर्ग्रन्थों का तो कहीं नाम भी नहीं आया। दूसरी कथा में निर्ग्रन्थों से प्रव्रज्या ग्रहण करने का कथन है, किन्तु सम्पूर्ण कथा में निर्ग्रन्थों के साथ 'श्वेतवस्त्रधारी' विशेषण का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसलिए मुनि श्री नगराज

जी ने जो यह अनुवाद किया है कि "वह (पद्मा) पर्वत से नीचे उतरकर श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थों के संघ में प्रव्रजित हो गयी" मूलकथा के सर्वथा विपरीत है।

१७.२. मुनि श्री नगराज जी के भ्रम का कारण

वस्तुतः यही कथा खुद्दकनिकाय के अपदान नामक ग्रन्थ में भी आयी है, जिसका वर्णन थेरी २.३.१-५४ में किया गया है। उसमें १ से ५४ गाथाओं में पद्मा उपर्युक्त कथा का आत्मकथा के रूप में वर्णन करती है। इस कथा में कहा गया है कि पद्मकुण्डलकेसी ने 'श्वेतवस्त्र मुनियों' (सेतवत्थानं) के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण की—

तदाहं पातयित्वान गिरिदुग्गम्हि सम्भुकं।
मत्तिकं सेतवत्थानं उपेत्वा पब्बजिं अहं॥ ३६॥

सण्डासेन च केसे ते लुञ्चित्वा सब्बसो तदा।
पब्बाजियान मायंसं अधिमिस्संहु निच्चसो॥ ३७॥

अनुवाद—"उस दुर्गम पर्वत से सम्भुक ('सम्भुक' नाम के चोर पति) को नीचे गिराकर मैं 'श्वेतवस्त्रों' (श्वेतवस्त्रों अर्थात् श्वेताम्बर मुनियों) के पास जाकर प्रव्रजित हो गयी। वेर सभी केश सँड़सी से लुञ्चित कर मुझे दीक्षित कर दिया गया। तत्पश्चात् वे नित्यप्रति धर्मोपदेश देने लगे।"

'अपदान' की ये सामान ५४ गाथाएँ 'थेरीगाथा-अट्ठकथा' की 'पद्मकुण्डलकेसा-थेरीगाथा-वण्णना' (क्र.१) में निम्नलिखित शब्दों के अनन्तर उद्धृत की गयी हैं—"तत्थ इमस्स आयस्मतिया जातिं—

सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसाम्मति॥

इमं गाथमाह। गाथापरियोसाने पब्बजित्वा सह पटिसम्भिदाहि अरहत्तं पापुणि। तेन वुत्तं अपदाने (अप/थेरी/२.३.१-५४)—

पदुमुत्तरो नाम जिनो सब्बधम्मान पारगू।
इतो सतसहस्सम्हि कप्पे उप्पज्जि नायको॥ १॥

यह 'अपदान' (थेरी २.३) की पहली गाथा है। इसके बाद लेप ५३ गाथाएँ उद्धृत हैं। इन्हीं के अन्तर्गत उपर्युक्त 'तदाहं पातयित्वान' आदि दो गाथाएँ (३६-३७) उद्धृत हैं।

इस प्रकार "पद्मकुण्डलकेसा अपने पति को पर्वत से नीचे ढकेलने के बाद श्वेतवस्त्र मुनियों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करती है" ये वचन अट्ठकथा में वर्णित

थेरीगाथा-अट्ठकथा की 'भद्दाकुण्डलकेसा-थेरीगाथा वण्णना' में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात कही है। 'निगंठवत्थु' की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—

"इस घटना-प्रसंग में निगण्ठों के वस्त्रपात्र की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था? पर, इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्धपरम्परा को सचेलक और अचेलक, दोनों ही प्रकार के निगण्ठों का परिचय है।" (आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन/ खं.१/पृ.४३९)।

धम्मपद-अट्ठकथा (८/३) और थेरीगाथा-अट्ठकथा (९) की 'कुण्डलकेसी-थेरीवत्थु' या 'भद्दाकुण्डलकेसा-थेरीगाथा-वण्णना' की समीक्षा में मुनि जी कहते हैं—

"प्रसंग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध को प्रमुख शिष्य का पहले निगंठसंघ में दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केशलुंचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।" (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन/ खण्ड १/पृ.४४०)।

उक्त कथाओं में वस्त्रधारी या श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात सर्वथा मिथ्या है। उनमें निगंठों के वस्त्रधारी होने का कथन कहीं भी नहीं है। धम्मपद-अट्ठकथा की 'निगंठवत्थु' कथा में तो इस तथ्य का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। अन्य दो कथाओं में भी निगण्ठों के साथ 'वस्त्रधारी' विशेषण के अभाव के प्रमाण नीचे दिये जा रहे हैं।

७.१. कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु

इस कथा का वर्णन धम्मपद-अट्ठकथा के आठवें सहस्सवग्ग (सहस्रवाग्वी) में तीसरे क्रम (८/३) पर तथा थेरीगाथा-अट्ठकथा में नौवें क्रम पर है। दोनों में कथा समान है, केवल सेट्ठिपुत्री भद्रा के दीक्षास्थलादि दोनों में भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं। धम्मपद-अट्ठकथा में वर्णित कथा का सार इस प्रकार है—

कुछ राजपुरुष एक चोर युवक को पकड़कर वधस्थल से जा रहे थे। सेट्ठिपुत्री भद्रा उसे देखकर मोहित हो जाती है और उसके साथ विवाह के लिए माता-पिता से हठ करती है। पिता राजपुरुषों को एक हजार मुद्राएँ देकर चोर को छुड़ा लेता है और उसके साथ पुत्री का विवाह कर देता है। चोर युवक ससुराल में ही रहने लगता है। भद्रा सदा आभूषणों से लदी रहती थी। चोर युवक के मन में विचार आता है कि किसी बहाने उसे चोरप्रपात पर्वत पर ले जाकर मार डाला जाय और आभूषण लेकर भाग जाया जाय। वह भद्रा को पर्वत पर ले जाता है। पर्वत पर पहुँचने पर जब भद्रा को अपने पति के षड्यन्त्र का पता चलता है, तब वह उसे ही पर्वत से धकेलकर मार डालती है और आभूषण वहीं छोड़कर भाग आती है। किन्तु फिर लोकापवाद के भय से घर नहीं जाती और परिव्राजकों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती है। बाद में वह बौद्धधर्म में दीक्षित हो जाती है। वहाँ उसका नाम कुण्डलकेसी रख दिया जाता है। परिव्राजकों के आश्रम में जाकर भद्रा के प्रव्रज्या ग्रहण करने के वृत्तान्त का मूल पाठ नीचे दिया जा रहा है—

"सापि भोगे पहाय सिविकाय निक्खमि, "सत्थारं गेहं गच्छन्तिया, 'सामिको ते कुहिं' ति पुच्छित्वा। सत्थारं एवं पुट्ठा—'मारिसे मे' ति पक्कोसि, 'दुब्बिनीतो सहस्सं दत्वा इं आहरापेत्वा इदानि वं मारेसी' ति मं मुखसंसीहि विञ्झापेन्ति, 'आभरणभण्डं मे नं मारेतुकामो अहोसी' ति वुत्तेपि न सद्दहिस्सन्ति, अलं मे गेहेन' ति तत्थेवापक्कमि। इट्ठिया अत्तनं परिच्चिन्तेत्वा अनुक्कमेन विचरन्ती एकं परिब्बाजकानं अस्समं पत्वा वन्दित्वा—'यक्खं भन्ते, तुम्हाकं सन्तिके पब्बज्जं देथा' ति आह। अथ नं पब्बाजेसुं।" (धम्मप-अट्ठकथा/भा.३/८/३/पृ.३१६)।

अनुवाद—"उसने भी चोर को प्रसन्न करके योजना बनाई कि अब यदि मैं घर लौटती हूँ, तो लोग पूछेंगे कि तुम्हारा स्वामी कहाँ है? यदि मैं कहूँगी कि उसे मैंने मार डाला, तो वे कहेंगे कि दुष्टे! हजार मुद्राएँ देकर जो उसके साथ घर बसाना था, आज उसे भी मार डाला? ऐसा बोलकर वे मुझ पर कटाक्ष करेंगे। यदि मैं कहूँगी कि वह आभूषणों के लिए मुझे मार डालना चाहता था, तो वे मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। इसलिए मेरा घर न जाना ही उचित है। यह सोचकर उसने आभूषण वहीं छोड़ दिये और घर से प्रवेश कर विचरण करती हुई परिव्राजकों के एक आश्रम में पहुँची। वहाँ परिव्राजकों को प्रणाम कर वह बोली—"भन्ते! मुझे अपने धर्म में प्रव्रज्या दीजिए। उन्होंने उसे प्रव्रज्या दे दी।"

थेरीगाथा-अट्ठकथा में यह अंश इस प्रकार है—"सासो भद्दा चिन्तेसि, 'न सक्का मया इमिना निवासेत्वा गेहं गन्तुं, इतोव गन्त्वा एकं पब्बज्जं पब्बजिस्सामी' ति निगण्ठानं सन्तिके पब्बज्जं याचि। अथ नं ते आहंसु 'केन निमन्तेन पब्बज्जा होतू' ति? 'यं तुम्हाकं पब्बज्जाय उत्तमं, तदेव करोमा' ति। ते 'साधू' ति तस्सा तालट्ठिना केसे लुञ्चित्वा पब्बाजेसुं। पुन केसा वड्ढना कुण्डलाकारा हुत्वा पतिंसु। तेनस्सा कुण्डलकेसीति नाम जातं।" (थेरीगाथा-अट्ठकथा / १-भद्दाकुण्डलकेसा थेरीगाथा-वण्णना / पृ.११३)।

अनुवाद—"तब भद्रा ने सोचा कि मैं इस दशा में (पति को हत्या करने के बाद) घर नहीं जा सकती। यहाँ से जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी। यह सोचकर निर्ग्रन्थों के आश्रम में गयी और उनसे प्रव्रज्या की याचना की। वे उससे बोले—"किस नियम

से रहित कहकर अमुनि घोषित कर देती है और प्रथम किये बिना ही चली जाती है, इससे भी सिद्ध हो जाता है कि उनकालीन बौद्धसाहित्य में भी निर्ग्रन्थमुनि नग्नरूप में ही वर्णित हैं।

१६

निर्ग्रन्थ में अवास्तविक आचरण का चित्रण

बुद्ध के प्रति विशाखा की अनन्य भक्ति दर्शाने के लिए निर्ग्रन्थों के प्रति उसका तीव्र घृणाभाव दर्शाना आवश्यक था। इसका अवसर उपस्थित करने के लिए धम्मपद-अट्ठकथा के कर्ता बुद्धघोष ने निर्ग्रन्थों को ऐसा आचरण करते हुए दिखाया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। निर्ग्रन्थ मुनि भोजन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, अपितु नियत समय पर आहार के लिए स्वयं ही श्रावकों के घरों के सामने से निकलते हैं। उस समय जो भी श्रावक उनका श्रद्धिपूर्वक प्रतिग्रहण करता है और उनके द्वारा ग्रहण किया गया अशिष्ट (पुनरिसल्लान-आहारसम्बन्धी विस्वविसेस) यदि वहीं पूर्ण होता है, तो उसी के घर में खड़े होकर परोसने में आहार ग्रहण करते हैं। किन्तु बुद्धघोष ने लिखा है कि विशाखेही ने पाँच सौ निर्ग्रन्थों को भोजन के लिए आमन्त्रित किया और घर में प्रवेश कराया। यदि बुद्धघोष निर्ग्रन्थों को भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करनेवाला न दर्शाते, तो पाँच सौ मुनियों का एक घर में आहार के लिए एक साथ प्रवेश युक्तिसंगत सिद्ध न होता और वैसा न होने पर विशाखा के द्वारा पाँच सौ निर्ग्रन्थों का अपमान किया जाना संभव न होता। अतः इसे संभव बनाने के लिए बुद्धघोष ने निर्ग्रन्थों को निमंत्रण देने पर भोजन के लिए आनेवाले साधुओं के रूप में चित्रित किया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। ऐसा एक उदाहरण धम्मपद-अट्ठकथा की 'निगण्ठवत्थु अट्ठकथा' में भी मिलता है। कथा इस प्रकार है—

"अलज्जितायेति इदं धम्मदेसनं सत्था जेतवने विहरन्तो निगण्ठे आरब्भ कथेसि। एकस्मिञ्हि दिवसे भिक्खू निगण्ठे दिस्वा वत्तं समुट्ठापेसुं, "आवुसो, मज्झिमे अम्हेहि अपेक्खकेहि इमे निग्गण्हा वातप, ये एवं पुत्तिमत्तम्मि वाव पटिच्छादेन्ति, सक्खिस्सन्ति मञ्ञे एते" ति। तं सुत्वा निगण्ठा "न मयं एतेन कारणेन पटिच्छादेम, पंसुकूलञ्ञेव नो पुण्णता एव, जीविन्द्रियपटिबद्धा एव, ते नो भिक्खाचारेसु च परिसुति इमिना कारणेन पटिच्छादेमा" ति वत्वा तेहि सद्धिं चतुपरिवादवसेन बहुं कथं कथेसुं। भिक्खू सत्थारं उपसङ्कमित्वा निसिन्नकाले तं पवत्तिं आरोचेसुं। सत्था, "भिक्खवे, अलज्जितब्बेन लज्जिता, लज्जितब्बेन अलज्जमाव नाम दुग्गतिपरायणा होती" ति वत्वा धम्मं देसेन्तो इमा गाथा अभासि—

अलज्जिताये लज्जन्ति, लज्जिताये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१६॥

अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१७॥ धम्मप.

"तत्थ अलज्जिताये ति अलज्जितब्बेन। भिक्खाचारनामिकं अलज्जितब्बं नाम, तं पन तं पटिच्छादेन्ता निगण्ठा तेन लज्जन्ति नाम। लज्जितब्बेति अपटिच्छादेन्तेन हिरोत्तप्पेनेव लज्जितब्बेन। ते पन तं अपटिच्छादेन्ता विचरन्ता लज्जिताये न लज्जन्ति नाम। तेन वुत्तं अलज्जितब्बेन लज्जिनं लज्जितब्बेन अलज्जितं दुच्चरितभावेन च अज्जवसाहचरियभावेन च मिच्छादिट्ठिं होतीति। तं सम्मादिट्ठिका विचरन्ता पन ते मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता निरयादिभेदं दुग्गतिं गच्छन्तीति अत्थो। अभयेति भिक्खाचारं निस्सय रागदोस-मोह-मानदिट्ठि-किलेसदुच्चरितभावं अनुपगन्तब्बो भिक्खाचारं अभयं नाम, पापेन तं पटिच्छादेन्ता पन अभये भयदस्सिनो नाम। हिरोत्तप्पेनेवं चरं विसयरागादीनं उपगन्तब्बो तं भयं नाम, तथा अपटिच्छादनेन भये चाभयदस्सिनो। तस्स तं अयथासहचरणेन समादिन्ना मिच्छा-दिट्ठिसमादाना सत्ता दुग्गतिं गच्छन्तीति अत्थो।"[१००]

अनुवाद

"अलज्जितायें" इत्यादि धर्मदेशना शास्ता ने जेतवन में विहार करनेवाले निर्ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर की है। एक दिन (बौद्ध) भिक्षु निर्ग्रन्थों को देखकर चर्चा करने लगे-"मित्रो, सर्वज्ञ नाम रहनेवाले साधुओं में ये निर्ग्रन्थ अच्छे हैं, क्योंकि ये सामने का भाग ढँके रहते हैं। इसलिए लगता है कि ये लज्जालु (लज्जावन्) हैं। यह सुनकर निर्ग्रन्थ बोले—"हम इस कारण (लज्जा के कारण) नहीं ढँकते हैं, प्रत्युत धूल आदि भी जीव (पुराण)[१०१] ही हैं, वे जीवन और इन्द्रियों से जुड़ुक हो हैं, वे हमारे भिक्षाचारों में न गिर जायँ, इस कारण हम ढँकते हैं।" ऐसा कहने के बाद उनके साथ बहुत देर तक वादविवाद हुआ।

"जब शास्ता (गुरु) बैठे हुए थे, तब भिक्षुओं ने उनके पास जाकर, इस घटना की सूचना दी। शास्ता बोले—"भिक्षुओ! जो लज्जा न करने योग्य कार्य में लज्जा करते हैं और लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते, वे दुर्गति के पात्र होते हैं।" यह कहकर धर्म का उपदेश देते हुए उन्होंने ये गाथाएँ कहीं—

---

१००. निगण्ठवत्थु / अ.८ चतुक्कनिपाते धम्मपद-अट्ठकथा / भाग २ / पृ. २७९-२८०।
१०१. पालिभाषा में 'पुराण' (पुराण) का अर्थ 'जीव' है।

"जो साधु लज्जा न करने योग्य कार्य में लज्जा करते हैं और लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते, वे मिथ्या दृष्टि का अवलम्बन करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।" (गाथा ३१९)।

"जो साधु भय न करने योग्य कार्य में भय करते हैं और भय करने योग्य कार्य में भय नहीं करते, वे मिथ्या दृष्टि का अवलम्बन करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।" (गाथा ३२०)।

"अलज्जिकाये इस गाथा का अभिप्राय इस प्रकार है—भिक्षाचर लज्जा का कारण नहीं है, किन्तु वे निर्ग्रन्थ उसे प्रच्छादित करके विचरण करते हैं अर्थात् भिक्षाचर का दूसरों को दिखना उनके लिए लज्जा कारण होता है। किन्तु अनावृत पुरुषलिङ्ग (लिंग) लज्जा का कारण है, फिर भी वे निर्ग्रन्थ उसे चित्र ढँके ही विचरण करते हैं। यह लज्जा की बात है, किन्तु वे उससे लज्जित नहीं होते। इस प्रकार जो कार्य लज्जा के योग्य नहीं है, उससे वे लज्जित होते हैं। और जो लज्जा के योग्य है उससे लज्जित नहीं होते। यह अन्यथाग्रहणरूपा मिथ्या दृष्टि है। इस मिथ्या दृष्टि को ग्रहण कर विचरण करते हुए वे प्राणी नरकादि दुर्गति को प्राप्त होते हैं।"

"अथवे इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है—भिक्षाचर के चित्त में राग, द्वेष, मोह, मान, क्रोध, दुश्चरित्र आदि के भाव उत्पन्न नहीं होते, इसलिए भिक्षाचर भाव का कारण नहीं है, तथापि भाव का कारण मानकर उसे वे प्रच्छादित करते हैं। इस प्रकार अभाव में भी वे भाव देखते हैं। इसके विपरीत चुल्लपिंडिय (हिक्किपीणद्ध—ह्रीक्रीपीनाद्ध = लज्जाजनक पुतादृ) के चित्त में रागादि की उत्पत्ति होती है, अतः वह भाव का कारण है। फिर भी वे उसे ढँकते नहीं हैं। इस तरह वे भाव में अभाव देखते हैं। इस मिथ्या दृष्टि के आश्रय से प्राणी दुर्गति में जाते हैं।"

इस अट्ठकथा में निर्ग्रन्थों (दिगम्बरजैन मुनियों) को भिक्षाचरधारी बतलाया गया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। दिगम्बरजैन मुनि भिक्षापात्र नहीं रखते, वे पाणिपात्रभोजी होते हैं इसके विपरीत जो भिक्षापात्र रखते हैं, वे श्वेताम्बर मुनि वस्त्र नहीं रखते। वास्तविकतापूर्ण विवरणमें श्वेताम्बर मुनियों का सचेल अर्थात् वस्त्र से आच्छादित बतलाया गया है और वस्त्रलब्धि-रहित जिनकल्पियों को नग्नता एक, दो या तीन वस्त्रों (प्रावरणों) के धारण करने से अनुल्लिंगपत्र कही गयी है। स्थविरकल्पी श्वेताम्बर मुनि तो प्रावरणों के अतिरिक्त चोलपट्ट भी धारण करते थे। इस प्रकार कोई भी श्वेताम्बर मुनि नग्न नहीं रहता था। श्वेताम्बरग्रन्थों में मुनि का नग्न रहना असंयम और निर्ग्रन्थता का उपहास माना गया है।[१०२] इसलिए यदि इस कथा में भिक्षाचर के वर्णन से श्वेताम्बर

१०२. दीघनि. द्वितीय अध्याय। तृतीय ब्राह्मण / सोनंक ३.३.१ 'जिनकल्पी भी सचेल और अचेल'

मुनियों का वर्णन माना जाय, तो उन्हें नग्नरूप में वर्णन करना श्वेताम्बर-मुनिचर्या के विरुद्ध है, फलस्वरूप इस कथा में उनका कथन नहीं बन जा सकता। अतः सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य में 'निर्ग्रन्थ' शब्द से दिगम्बरजैन मुनियों का ही वर्णन किया गया है, अतः इस अट्ठकथा में दिगम्बरजैन मुनियों का ही कथन है, यह निर्विवाद है। तथा अन्य किसी भी स्थान पर निर्ग्रन्थों को भिक्षाचरधारी नहीं बतलाया गया है, इससे सिद्ध है कि बुद्धघोष ने "जो साधु लज्जा न करने योग्य कार्य में लज्जा करते हैं और लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते, वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं", बुद्ध के इस उपदेश को किसी प्रसंग से जोड़ने के लिए निर्ग्रन्थों का प्रसंग कल्पित किया है। और "जो लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते" यह तो निर्ग्रन्थों पर स्वयमेव: घटित हो जाता है, किन्तु "जो लज्जा का कारण नहीं है, उसमें लज्जा करते हैं" यह स्वयमेव: घटित नहीं होता। अतः इसे घटित करने के लिए बुद्धघोष ने उनके साथ भिक्षापात्र ग्रहण करने का धर्म अपने मन से जोड़ दिया है। और विचित्र बात यह है कि जब वे निर्ग्रन्थों के मुख से स्वयं कहलवा रहे हैं कि भिक्षापात्र को हम लज्जा के कारण नहीं ढँकते, अपितु उसमें जीव न गिर जायँ, इसलिए ढँकते हैं, फिर भी यह मान लिया गया है कि वे भिक्षापात्र को लज्जा के ही कारण वस्त्र से ढँकते हैं। और भिक्षापात्र को ढँकने, न ढँकने में लज्जा, अलज्जा का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह कोई अश्लील अशोभनीय वस्तु नहीं है। अतः वे निर्ग्रन्थ लज्जा के कारण भिक्षापात्र को वस्त्र से ढँकते हैं, यह कल्पना ही, असंगत है। यह भी एक विचित्र बात है कि अट्ठकथा-लेखक पहले यह भ्रम पैदा करते हैं कि निर्ग्रन्थों ने अपने गोपनीय अंग को वस्त्र से आच्छादित कर रखा है, बाद में यह स्पष्ट करते हैं कि गोपनीय अंग नहीं, अपितु भिक्षापात्र वस्त्र से ढँका गया है। इसके अतिरिक्त ये निर्ग्रन्थ सर्वथा नग्न थे, फिर भी यह तुलना की गई है कि सर्वथा वस्त्र पहननेवाले साधुओं से गोपनीय अंग को प्रच्छादित करनेवाले ये निर्ग्रन्थ अच्छे हैं, सश्लेक (लज्जावान्) मालूम होते हैं। ये विसंगतियाँ एवं मिथ्या कथन सिद्ध करते हैं कि अट्ठकथा-लेखक ने अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए निर्ग्रन्थों के साथ उन आचरणों को भी जोड़ दिया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध हैं।

१७

बौद्धसाहित्य में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं

पालि-त्रिपिटक में तो 'निर्ग्रन्थ' शब्द से दिगम्बरजैन मुनि का ही चित्रण किया गया है, बौद्ध-अट्ठकथाओं में भी ऐसा ही उपलब्ध होता है। किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री नगराज जी ने धम्मपद-अट्ठकथा की 'निगंठवत्थु' एवं 'कुण्डलकेसीथेरीवत्थु' में तथा

१०

धम्मपद-अट्ठकथा में निर्ग्रंथ का नग्नरूप

अट्ठकथा-साहित्य की रचना चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० में हुई है। धम्मपद-अट्ठकथा के रचयिता बुद्धघोष हैं। इसने एक विसाखावत्थु नाम की कथा है, जिसमें निर्ग्रंथों को नग्नरूप में वर्णित किया गया है। कथा इस प्रकार है—

"मिगारसेट्ठिपि पुत्तस्स आवाहमङ्गलं करोन्तो धुरविहारे बहूनम्पि तथागतं आवज्जितत्ता दीपरुक्खसदिसेसु पण्णसमणकोटीसु पविट्ठेसु पेसेन चोदियमानो "गच्छं अय्यानम्पि सक्कारं करिस्सामी" ति एकदिवसं अनेकसतेसु नवभाजनेसु निरुदकपायासं पचापेत्वा पञ्चसते अचेलके निमन्तापेत्वा अन्तोगेहं पवेसेत्वा, "आगच्छतु मे सुण्हिया, अरहतो वन्दतू" ति विसाखाय सासनं पहिणि। सा 'अरहन्तो' ति वचनं सुत्वा मोसवज्जा अरियसावियाय हट्ठतुट्ठ हुत्वा तेसं भोजनट्ठानं आगन्त्वा ते अचेलके, "एवरूपा हिरोत्तप्पविरहिता अरहन्त नाम न होन्ति, कस्स नु खोयं पक्खेपसोसो" ति, 'धी, धी' ति गरहित्वा अतनो घरद्वारमेव गता। अचेलका तं दिस्वा सब्बे एकच्छहोदेन रोदिंसु—"किं तं गहपति, अम्हं भत्तस्स, ममपास गोतमस्स सावकं महाकालकण्णिं इध पवेसेसि, येनेव नं इमस्स गेहा निक्कड्ढोही" ति। सो 'न सक्कार मया इमेसं कारणमकोव निक्कड्ढापेतुं, महानुलत्या मं पीतं' ति विनोत्वा, "अय्या, दहरा चाम जानिस्सा वा अजानिस्सा वा करेय्युं, तुम्हे खुहो होथा" ति ते उय्योजेत्वा सयं महारहे आसने निसीदित्वा सुवण्णपातियं सिन्दकं मधुपायासं परिभुञ्जि।

"तस्मिं समये एको पिण्डपातिकत्थेरो पिण्डाय चरन्तो तं विसेसं पापुणि। विसाखा थेरं दिस्वा 'सप्पुरिसस्स आगमिस्सतु अयुज' न्ति वत्वा सो मेरं पस्सति, एवं अगन्त्वा अट्ठासि। सो च खो थेरं दिस्वापि अपस्सन्तो विय हुत्वा अच्चेतुञ्चेव भुञ्जतेव। विसाखा 'थेरं दिस्वापि मे ससुरो सब्बं न करोती' ति ञत्वा, "अतिखण्डं भन्ते, यदहं ससुरे पुराणं खादती" ति आह। सो निक्खन्तेहि कतिपाहकालेसे अधिवासेत्वापि 'पुराणं खादती' ति सुतत्तायेव हत्थं अत्तेत्वा, "इमं चणमं इतो नीहरथ, इमं इमस्स गेहा निक्कड्ढथ, अज्जं मं एवरूपे महल्लककाले असुचिभावेन चाम करोती" ति आह।"[११]

अनुवाद

"मिगार सेट अपने पुत्र के विवाह का मंगल (उत्सव) कर रहा था। यद्यपि पड़ौस के विहार में तथागत (बुद्ध) निवास करते थे, तो भी उनकी उपेक्षा कर सेठ ने नग्न साधुओं के प्रेम से प्रेरित हो 'मैं आर्यों का भी सत्कार करूँगा' ऐसा सोचकर

११. विसाखावत्थु / ४.८ / खुद्दकनिकाये धम्मपद-अट्ठकथा / भाग १ / पृ. २२३-२२४।

एक दिन सैकड़ों नये घड़ों में जलरहित खीर पकवाई और पाँच सौ नग्नमूर्तियों को आमंत्रित कर घर के भीतर प्रवेश कराया। मुनियों के आने पर सेठ ने विशाखा (पुत्रवधू) के पास आदेश भिजवाया कि वह आकर मुनियों को प्रणाम करे। विशाखा 'मुनि' नाम सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और भोजनशाला में आयी, किन्तु नग्न मुनियों को देखकर सोचने लगी कि मुनि तो ऐसे लज्जा-परिहीन नहीं होते। मेरे ससुर ने मुझे क्यों बुलवाया? 'छी-छी' इस प्रकार सेठ की निन्दा करती हुई अपने आवास में चली गयी। नग्न मुनि उसे देखकर एक साथ सेठ की निन्दा करने लगे—"धिक्कार है गृहपति! क्या तुम्हें और कोई नहीं मिला, जो तुम अपने पौत्र की आयिका को घर में से लाये? इसे तुरन्त घर से निकालो।" सेठ सोचने लगा—'इनके कहने मात्र से मैं इसे नहीं निकाल सकता। यह बड़े कुल की बेटी है।' यह सोचकर वह मुनियों से बोला—"आर्य! यह बालिका है, जाने-अनजाने में यह ऐसा कर बैठी। आप ही क्षमा करें" इस प्रकार समझा-बुझाकर सेठ ने उन्हें विदा किया और स्वयं बहुमूल्य आसन पर बैठकर स्वर्णपात्र में निर्मल मधुर खीर खाने लगा।

"उसी समय एक भिक्षु भिक्षा के लिए भ्रमण करता हुआ उसके घर में प्रविष्ट हुआ। विशाखा ससुर को परोसा हुआ देख रही थी। उसने सोचा—'ससुर को बैठना शोभा नहीं है, स्वयं ही भिक्षु को देख लेंगे।' किन्तु सेठ भिक्षु को देखकर भी अनदेखा करता हुआ नीचे मुँह किये हुए भोजन करता रहा। विशाखा ने यह देखकर कि मेरे ससुर भिक्षु को देखकर भी उनकी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं, भिक्षु से कहा—"भन्ते! आप जायें, मेरे ससुर 'पुराना' खा रहे हैं।" जिस सेठ ने पहले विशाखा की निन्दाओं से क्षमा करा दिया था, उसने इस समय 'पुराना खा रहे हैं (जाती खा रहे हैं) ये वचन सुनते ही भोजन से हाथ हटा लिया और सेवकों से बोला—"यह खीर ले जाओ और इसे (विशाखा को) इस घर से निकाल दो। यह मुझे इस घोर अकाल में अशुचिभावना कर रही है।"

यह उपर्युक्त पालि उद्धरण का अनुवाद है। इसके बाद विशाखा स्पष्ट कर देती है कि "पुराना खा रहे हैं इस कथन का आशय यह था कि मेरे ससुर पूर्वार्जित पुण्यों का ही भोग कर रहे हैं, इस समय भिक्षा न देकर नया पुण्य अर्जित करने से वंचित हो रहे हैं।" बाद में अपने पुत्रवधू विशाखा पर प्रेरणा से बुद्ध का उपदेश सुनकर सेठ बुद्ध का अनुयायी बन जाता है और विशाखा को अपनी माता मान लेता है।

इस कथा में निर्ग्रंथों को स्पष्ट शब्दों में नग्नअवस्था कहा गया है और विशाखा, जो कि बुद्धोपासक परिवार से आयी थी, मुनियों के नग्नरूप को देखकर उन्हें लज्जाशून्य

१४
'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ-श्रमण का चरित्र

'दिव्यावदान' संस्कृत में लिखित प्राचीन बौद्धग्रन्थ है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल ३री शताब्दी ई० माना है।[१५] इसकी सर्वप्रथम खोज श्री बी. एच. हॉजसन (Hodgson) ने नेपाल में की थी। और इसका पहला संस्करण कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर श्री ई० बी० कावेल (Cowell) एवं स्कालर श्री आर० ए० नील (Neil) ने देवनागरिलिपि में किया है। इस ग्रन्थ की भाषा मिश्र (Hybrid) संस्कृत है, क्योंकि इसमें पालिभाषा के शब्दों और प्रयोगों का मिश्रण है। इसमें अपाणिनीय प्रयोग भी अनेकत्र हैं, तथा ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनका प्रयोग संस्कृतसाहित्य में उपलब्ध नहीं होता। कई शब्द ऐसे हैं, जिनका व्यवहार अपरिचित अर्थ में किया गया है। ये ग्रन्थ की प्राचीनता के लक्षण हैं। इनका विस्तार से विवेचन श्री 'कावेल' और 'नील' ने 'दिव्यावदान' की भूमिका में किया है।

'दिव्यावदान' में एक 'उपाहारसूत्र' नाम की कथा है, जिसमें निर्ग्रन्थ श्रमणों की कपोलकल्पित चरितचर्या गई है। कथा का सार यह है कि निर्ग्रन्थ श्रमण 'पूरण काश्यप' गौतम बुद्ध से बुद्धप्रातिहार्य-प्रदर्शन (चमत्कार-प्रदर्शन) की प्रतिस्पर्धा में पराजित और मन द्वारा उत्पन्न आतंक से भयभीत होकर भाग जाता है तथा गर्म में बालुकापट बाँधकर शिंशिका नामक पुष्करिणी में कूदकर आत्महत्या कर लेता है। उसके अनुयायी निर्ग्रन्थ-श्रमण उसे ढूँढते हुए मार्ग में एक गणिका को देखकर पूछते हैं—"क्या तुमने पूरण निर्ग्रन्थ को देखा है, जिसका शरीर धर्मबल से आवृत था?" गणिका कहती है—"यह तो शिंशिका पुष्करिणी में डूबकर मर गया।" निर्ग्रन्थ श्रमण कहते हैं—"ऐसा मत कहो। वह तो धर्मबल से शरीर को आवृत कर धर्मचक्रप्रवर्तन करनेवाला मुनि है।" गणिका कहती है—

"वह अज्ञानी पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है, जो लोगों के सामने नग्न होकर गाँव में घूमता-फिरता है, जिसका 'धर्म' लिंग का प्रदर्शन करना है ('यस्यायमीदृशो धर्मः पुरुषाग्रस्यते दशा') उसके तो दोनों कान राजा को छुरे से काटकर देने चाहिए।"

ये निर्ग्रन्थ श्रमण 'शिंशिका' नामक पुष्करिणी (सरोवर) पर जाते हैं और देखते हैं कि पूरण काश्यप उसमें मरा पड़ा है। वे उसके शव को पुष्करिणी से निकालते हैं और एक तरफ छोड़कर चले आते हैं। कथा का प्रासंगिक संस्कृत मूलपाठ नीचे दिया जा रहा है—

१५. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ४२०।

"अथ पूरणो निर्ग्रन्थो बालुकापटं कण्ठे बद्ध्वा शिंशिकायां पुष्करिण्यां[१६] पतितः। स तत्रैव कालगतः। अथ ते निर्ग्रन्थाः पूरणं मृतमज्ञाताः प्रतिमार्गं गणिकां दृष्ट्वा पृच्छन्ति— भद्रे! अस्ति त्वयाऽद्यैनं श्रमणमिह पूरणं धर्मप्राग्भारप्रतिच्छन्नं कटस्थतरपोज्वलम्? गणिका प्राह—

अपण्डितो नैपुणिको मुढहस्तावचारकः।
लोकाग्र्यां[१७] यान्तमादाय एष व्रजति पूरणः॥
यद्येवं वोऽयमत्यन्तं नैतत्तथ सुभाषितम्।
धर्मप्राग्भारप्रतिच्छन्नो धर्मं सञ्चरते मुनिः॥

गणिका प्राह—

कथं स बुद्धिमान् भवति पुरुषे व्यञ्जनान्वितः।
लोकस्य पश्यतो यो ऽयं ब्रह्मे चरति चायकः॥
यस्यायमीदृशो धर्मः पुरुषाग्रस्यते दशा।
तस्य वै कर्णौ राजा क्षुरेणापकृन्तयु॥

अथ ते निर्ग्रन्था येन शिंशिका पुष्करिणी तेनोपसङ्क्रान्ताः। अद्राक्षुस्ते निर्ग्रन्थाः पूरणं कालगतं पुष्करिण्यां पूर्वं कालगतम्। दृष्ट्वा च पुनः पुष्करिण्या उद्धरणैकान्ते शीतलिकां प्रक्षिप्तवन्तः।"[१८]

यहाँ जिस पूरण काश्यप की चर्चा है, वह अक्रियावादी पूरण काश्यप से भिन्न है, क्योंकि अक्रियावादी पूरण काश्यप निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का नहीं था, किन्तु यह निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का था।

इस कथा में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ पूरण काश्यप के अनुयायी निर्ग्रन्थ उसके शव को पुष्करिणी से निकालकर एकान्तत्र छोड़कर चले जाते हैं। यह निर्ग्रन्थ मुनियों के अन्तिम संस्कार की वही विजहना प्रथा है, जिसका वर्णन 'भगवती-आराधना' में किया गया है। इस प्रथा के उल्लेख की समानता से 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ भी 'दिव्यावदान' के समान ही प्राचीन सिद्ध होता है।

प्रथम शताब्दी ई० में रचित 'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ मुनियों के चरित्र का वर्णन होने से सिद्ध है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में दिगम्बर जैन मुनियों का उल्लेख है।

१६. 'पुष्करिण्यां' होना चाहिए।
१७. 'लोकाग्र्यां' होना चाहिए।
१८. The Divyavadana, pp.165-166.

"स्वामी पूछें। जानती होंगी, वे कहेंगे।"

स्थविर ने पूछा—"एक बात क्या है?"

वे नहीं बता सकीं, तब स्थविर ने बताये। इस पर वे बोलीं—

"स्वामी! हमारी पराजय हुई। आपकी जय हुई।"

"अब क्या करोगी?"

"हमारे माता-पिता ने हमसे कहा था कि यदि गृहस्थ से पराजित हुईं, तो उसके गृहिणी बन जाना और यदि प्रव्रजित से पराजित हुईं, तो उनके पास प्रव्रजित हो जाना। आप हमें प्रव्रजित करें।"

स्थविर ने 'अच्छा' कहकर उन्हें उत्पलवर्णा स्थविरी के पास प्रव्रजित कराया। सभी शोध ही अर्हत्व को प्राप्त हुईं।

भिक्षुओं ने धर्मसभा में चर्चा की—आयुष्मन्तो! सारिपुत्र स्थविर ने चारों परिव्राजिकाओं का संत्रासक हो, सभी को अर्हत्व प्राप्त करा दिया।"[२३]

इस कथा में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्राद्धार्यकुशल श्रावक-श्राविका को 'निर्ग्रन्थ' और 'निर्ग्रन्थी' शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वे श्रमण और श्रमणी नहीं थे, यह इसी बात से सिद्ध है कि वैशाली के श्राद्धार्यकुशल 'सात हजार सात सौ सात' लिच्छवी राजाओं और अन्य धर्मवृद्ध लोगों ने, जो संभवतः निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के ही रहे होंगे, उनका शिवाह कराना उचित सम्मान और वे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी भी इसके लिए तैयार हो गये। यदि वे मुनि और आर्यिका होते, तो पहले तो स्वयं ऐसा पापकर्म करने में लज्जित होते, पुनः यदि वे निर्लज्ज होकर ऐसा कदम उठाते, तो वैशाली के श्राद्धार्यकुशल लिच्छवी-राजागण और अन्य धर्मवृद्ध उन्हें ऐसा करने से रोकते, क्योंकि धर्म और सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करने का उत्तरदायित्व उन पर था। अतः वे श्रावक-श्राविका ही थे, फिर भी उनके लिए 'निर्ग्रन्थ' और 'निर्ग्रन्थी' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त उनमें जो चार पुत्रियों के अतिरिक्त एक 'सावक' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था, वह वैशाली में रहकर ही लिच्छवियों को शिक्षा लिखाने लगा था, जिससे सूचित होता है कि वह गृहस्थ ही था। उसके लिए भी कथा में 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। संभवतः सावक वही निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक है, जिसका वर्णन 'मज्झिमनिकायपालि' (भा.१) के 'महासच्चकसुत्त' में हुआ है। ये प्रयोग इस

२३. अनुवादक : भदन्त आनन्द कौसल्यायन/ कुल्लवग्गपालि/ चीवरक्खन्धक/ चतुर्थ खण्ड/ पृ. १०१-१०३/ हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सन् १९५० ई.।

बात के प्रमाण है कि बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावकों को भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि अन्य सम्प्रदायों से उनको भिन्नता दर्शाने के लिए इनके अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था। इसलिए मुनि श्री कल्याणविजय जी का यह कथन समीचीन नहीं है कि बौद्धसाहित्य में सर्वत्र जैन श्रावकों का कथन 'णिगंठसावक' या 'णिगंठस्स नाटपुत्तस्स सावक' शब्दों से हुआ है, 'णिगण्ठ' शब्द से भी हुआ है, यह उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है।

१३
'ओदातवसन' का अर्थ श्वेतवस्त्रधारी

मुनि श्री कल्याणविजय जी की दूसरी आपत्ति यह है कि 'ओदातवसन' में 'ओदात' (अवदात) का अर्थ श्वेत नहीं, अपितु उज्ज्वल अथवा स्वच्छ है और उज्ज्वल श्वेत भी हो सकता है और अन्यवर्ण भी। (म.भा./पृ.३२३)। किन्तु संस्कृत-हिन्दीकोश तथा पालि-हिन्दीकोश में 'ओदात' एवं 'अवदात' का अर्थ श्वेत भी मिलता है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अपने पालि-हिन्दीकोश में 'ओदातवसन' का अर्थ दृष्टान्त 'श्वेतवस्त्रधारी' ही किया है।

तथा सम्राट् अशोक के भाब्रा-लघुशिलालेख में लिखा है कि जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में भेद उत्पन्न करेगा, उसे अवदातवस्त्र धारण कराकर एकान्त स्थान में रखा जायेगा—"भिखु वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि संनंधापयिये वा अनावासंमि आवासयिये।"[२४]

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध भिक्षु लाल रंग के वस्त्र पहनते थे, आज भी पहनते हैं। उन्हें संघभेद करने के दण्डस्वरूप अवदात द्रव्य (वस्त्र) धारण कराकर अलग रखने की चेतावनी दी गई है। क्या यहाँ लाल रंग के वस्त्रों को उतारकर पहनाने का आशय है? ऐसा करना दण्ड होगा या पुरस्कार? वस्तुतः एकमात्र बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों का धार्मिक वेश है। उसे छुड़ाकर श्वेतवस्त्र पहनाने से ही बौद्धसङ्घ दण्ड परिणत हो सकता है। अतः यहाँ अवदातवस्त्र से श्वेतवस्त्र अर्थ ही अभिप्रेत है।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त धार्मिक प्रकरणों में 'अवदातवस्त्र' शब्द श्वेतवस्त्र अर्थ का ही वाचक है। अतः दीर्घनिकायपालि (भा.३) के 'पासादिकसुत्त' में कथित "ये पि खिय्यतस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना" इस वाक्य का "महावीर के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक" यह अर्थ स्वीकार करना सर्वथा उचित है।

२४. भाब्रा-लघुशिलालेख / 'पालीय सुत्तेसों का अध्ययन': डॉ. शिवस्वरूप सहाय/ पृ. १३५।

के अनुयायी श्रावक का पुत्र था। यह इस बात का प्रमाण है कि बौद्ध-त्रिपिटक-साहित्य में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावकों को भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

इसका बहुत स्पष्ट प्रमाण जातक-अट्ठकथा (तृतीय भाग) की चूल्लकसिट्ठ-जातकवण्णना में मिलता है। इसमें न केवल निर्ग्रन्थश्रावक को 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित किया गया है, अपितु निर्ग्रन्थश्राविका के लिए भी 'निर्ग्रन्थी' शब्द व्यवहृत हुआ है। यथा—

"विहारिमहां द्वारन्तरे इदं सत्थु जेतवने विहरन्तो चतुन्नं परिब्बाजिकानं पब्बज्जं आरब्भ कथेसि। वेसालियं किर लिच्छविराजूनं सत्त सहस्सानि सत्त सतानि सत्त च लिच्छवी वसिंसु। ते सब्बेपि पुच्छापटिपुच्छाविसारदा अहेसुं। अथेको पब्बज्जु वादसतेसु जातो निग्गण्ठो वेसालियं सम्बपुप्फि, तं तस्य सन्तिकं अगंसु। अपरापि एकस्स निगण्ठी सप्पपुप्फि। राजानो द्वेपि जने वादं कारेसुं, उभोपि सदिसजना अहेसुं। ततो लिच्छवीनं एतदहोसि "इमे द्वेपि पटिस उप्पन्ने पुत्तो व्यतो भविस्सती" ति। तेसं विवादं कारेत्वा द्वेपि एकतो वासेसुं। अथ नेसं संवासमन्वाय चटपटिका कलहसीला दारिकायो एकतो व दाकतो जाति। दारिकानं 'सच्चा', 'लोला', 'अवधारिका', 'चटिकाता' ति नामं अहेसुं दारकस्स 'सच्चको' ति। ते वुच्चति जना विम्हयं पत्ता सत्तसु पब्बज्जासतेसु, गणिते पञ्च वादसतानीति वादसहस्सं उग्गण्हिंसु। मातापितरो दारिकानं एवं ओवदिंसु—"सचे कोचि गिही तुम्हाकं वादं भिन्दिस्सति, तस्स वादचरियाय भरियाव होथ। सचे पब्बजितो भिन्दिस्सति, तस्स सन्तिके पब्बजेय्याथ" ति। अपरभागे मातापितरो कालमकंसु। तेसु कालकतेसु सब्बकिच्चानि उपेच्च वेसालियं लिच्छवीनं सिरिं सिक्खापेन्तो वसि।"[१२]

यह केवल प्रसंगिक पृष्ठिपृष्ठ यहाँ दिया गया है। सम्पूर्ण कथा का श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन-कृत हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जा रहा है। उन्होंने इसे चूल्लकसिट्ठ-जातक नाम से वर्णित किया है।

चुल्लकसिट्ठ-जातक

वैशाली में सात हजार सात सौ सात लिच्छवी-राजा रहते थे। वे सभी शास्त्रार्थ-कुशल थे। एक बार एक पाँच सौ वादी (मल्ल) से पंडित निर्ग्रन्थ वैशाली पहुँचा। उन्होंने उसका आदर सत्कार किया। एक दूसरे उसी तरह का निर्ग्रन्थी भी आ पहुँची। राजाओं ने दोनों का शास्त्रार्थ कराया। दोनों बराबर रहे। तब लिच्छवियों ने सोचा—'इन दोनों से उत्पन्न पुत्र मेधावी होगा।' उन्होंने दोनों का विवाह कराकर, उन्हें एक जगह बसाया। दोनों के सहवास से क्रमशः चार लड़कियाँ और एक लड़का पैदा हुआ। लड़कियों का सच्चा, लोला, अवधारिका (अवधारिका) और चटिकाता (चटिकाता) नाम रखा गया तथा लड़के का सच्चक। उन पाँचों ने बड़े होने पर माता से पाँच सौ वाद और पिता से पाँच सौ वाद, इस प्रकार एक हजार वाद सीख लिये। माता-पिता ने लड़कियों को यह नसीहत दी कि यदि कोई गृहस्थ तुम्हें शास्त्रार्थ में हरा दे, तो उसकी चाकर-दासियाँ बन जाना और यदि कोई प्रव्रजित हरा दे तो उसके पास प्रव्रजित हो जाना। समय बीतने पर माता-पिता चल बसे।

उनके मरने पर सच्चक निर्ग्रन्थ वहीं वैशाली में लिच्छवियों को शिल्प (शिक्षा) सिखाता हुआ रहने लगा। बहनों ने जम्बू-शाखा ले, शास्त्रार्थ के लिए नगर-नगर घूमना आरम्भ किया। श्रावस्ती पहुँच उन्होंने नगर-द्वार पर शाखा गाड़ दी और बालकों से कहा कि जो हमसे शास्त्रार्थ कर सके, वह गृहस्थ हो या प्रव्रजित, इस बात की देरी को पाँच से चिह्नित कर इस जम्बू-शाखा को पाँच से ही कुचल दे। यह कहकर वे भिक्षार्थ नगर में गईं।

आयुष्मान् सारिपुत्र बिना बुहारी जगह को बुहार कर खाली घड़ों में पानी भर, और रोगियों की सेवा कर दिन चढ़ने पर भिक्षार्थ निकले। उन्होंने वह शाखा देखी, और लड़कों से पूछा। लड़कों के बतलाने पर उन्होंने उसे लड़कों से ही गिरवाकर कुचलवा दिया और उनसे कहा कि जिन्होंने यह शाखा गाड़ी हो, वे भोजन समाप्त कर जेतवन की डयोढ़ी पर आकर मुझसे मिलें। भिक्षा से लौट कर भोजनान्त वे विहार की डयोढ़ी पर ही रहे। उन पाँचजिकाओं ने भी भिक्षा से लौट, उस शाखा को पतित देखकर पूछा—

"इसे किसने कुचला?"

"सारिपुत्र स्थविर ने। यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहो, तो विहार की डयोढ़ी पर जाओ।"

बच्चों से यह सुन, वे फिर नगर में गईं और जनता को इकट्ठा कर विहार की डयोढ़ी पर पहुँचीं। वहाँ उन्होंने स्थविर से एक हजार प्रश्न पूछे। स्थविर ने उत्तर देकर पूछा—

"और भी कुछ जानती हो?"

"स्वामी! नहीं जानतीं।"

"मैं कुछ पूछूँ?"

१२. चूल्लकसिट्ठजातकवण्णना/खुद्दकनिकाये जातक-अट्ठकथा/भा० ३/पृ० १-२/विनयपिटक विदेशी विनयम ज्ञानमुद्रा, सन् १९९८ ई०।

निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का श्रावक था, क्योंकि उसके साथ जुड़े निर्ग्रन्थपुत्र विशेषण में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थों को 'अचेलक' शब्द से भी अभिहित किया गया है। इस प्रमाण से मुनि कल्याणविजय जी का यह लिखना निरा सिद्ध हो जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रादि अवश्य रखते थे।

१२
निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक की भी 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा

दीघनिकाय (भा.३ / पासादिकसुत्त) के "निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदात-वसना" (महावीर के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक) इस कथन के आधार पर भिक्षु कौसल धर्मानन्द जी ने 'निगण्ठ एकसाटका'[८७] का अर्थ एक श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थ श्रावक किया है।

इस पर मुनि कल्याणविजय जी ने दो आपत्तियाँ की हैं। पहली तो यह कि 'निगण्ठ' शब्द निर्ग्रन्थसाधु का श्रावक है, न कि निर्ग्रन्थश्रावक का। दूसरी यह कि 'ओदात' (ओदात) का अर्थ श्वेत नहीं, उज्ज्वल अथवा स्वच्छ होता है।

'निगण्ठ' शब्द के अर्थ के विषय में वे लिखते हैं कि "बौद्ध पिटकों में 'निगण्ठ' शब्द केवल निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, श्रावकों के लिए नहीं। जहाँ कहीं भी जैन श्रावकों का प्रसंग आया है, वहाँ सर्वत्र 'निगंठस्स नाटपुत्तस्स सावका' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के श्रावक) अथवा निगंठसावक (निर्ग्रन्थों के श्रावक) इस प्रकार 'श्रावक' शब्द का ही उल्लेख हुआ है, न कि 'निगंठ' शब्द का। इसलिए 'निग्गंठ' शब्द का 'श्रावक' अर्थ लगाना कोरी हठधर्मी है।" (भ.प्र.ग./पृ.१३६)।

मुनि जी का यह कथन समीचीन नहीं है। बौद्ध पिटकों में 'निगण्ठ' शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के साधु और श्रावक अथवा निर्ग्रन्थ धर्मसंघ और उसके अनुयायी श्रावक दोनों के लिए हुआ है। सुत्तपिटकगत मज्झिमनिकाय (प्रथमखण्ड) के 'चूळसच्चकसुत्त' एवं 'महासच्चकसुत्त' में सच्चक को 'निगण्ठपुत्त' (निर्ग्रन्थपुत्र) कहा गया है। निगण्ठपुत्त का अर्थ निर्ग्रन्थमुनि का पुत्र नहीं हो सकता, क्योंकि मुनि सन्तति उत्पन्न नहीं करते। अतः उसका अर्थ है निर्ग्रन्थों के अनुयायी श्रावक का पुत्र। जैसे वर्तमान में दिगम्बरजैन संघसम्प्रदाय के श्रावक भी दिगम्बरजैन कहलाते हैं, वैसे ही प्राचीनकाल में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक भी निर्ग्रन्थ कहलाते थे, क्योंकि उस समय 'जैनसम्प्रदाय' (निर्ग्रन्थसम्प्रदाय) के नाम से ही प्रसिद्ध था। आजीविक सम्प्रदाय के साधु और श्रावक भी 'आजीवक' नाम से ही जाने जाते थे। अशोक के दिल्ली (टोपरा) स्तम्भाभिलेख में ब्राह्मणों, आजीविकों एवं निर्ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है।[८८] यहाँ 'आजीविक' (या 'आजीवका') और 'निर्ग्रन्थ' शब्दों से केवल नग्न साधु अर्थ अपेक्षित नहीं है, अपितु सम्प्रदाय-विशेष के नग्नसाधुओं से अभिप्राय है। अतः ये नाम उस समय सम्प्रदाय-विशेष के भी वाचक थे। इसलिए बौद्ध पिटकसाहित्य में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रमण और श्रावक दोनों के लिए 'निगण्ठ' संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

मुनि श्री कल्याणविजय जी ने निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक को 'निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक' कहा है (भ.प्र.ग./पृ.१३६)। यह भ्रान्तिपूर्ण है। सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थश्रमण को कहीं भी 'निर्ग्रन्थपुत्र' शब्द से सम्बोधित नहीं किया गया। भगवान् महावीर को भी 'निगण्ठपुत्त' नहीं कहा गया, अपितु 'निगण्ठनाटपुत्त' कहा गया है, जिसका अर्थ है नाथपुत्र (नाथवंशीय) या ज्ञातृपुत्र (ज्ञातृवंशीय) निर्ग्रन्थ श्रमण। इस पर प्रकाश डालते हुए पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री लिखते हैं—

"दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों इस बात से सहमत हैं कि महावीर कुण्डपुर या कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। और सिद्धार्थ दिगम्बरीय उल्लेखों के अनुसार काश्यप[८९] या नाथवंश के क्षत्रिय थे और श्वेताम्बरीय उल्लेखों के अनुसार ज्ञातृकुल के थे।[९०] इसी से महावीर को नाथपुत्र कहा और नाथपुत्र और ज्ञातृपुत्र एक ही अर्थ के वाचक हैं। इसी से 'बुद्धचर्या' में भी राहुल जी ने नाटपुत्त का अर्थ ज्ञातृपुत्र और नाथपुत्र दोनों किया है। अतः दिगम्बरों के अनुसार महावीर नाथपुत्र थे, तो श्वेताम्बरों के अनुसार ज्ञातृपुत्र थे। अतः बौद्धग्रन्थों में निर्दिष्ट नाथपुत्र अवश्य ही जैनतीर्थंकर महावीर हैं। उस समय जाति और देश के आधार पर इस तरह के नामों के व्यवहार करने का चलन था। जैसे बुद्ध को शाक्यपुत्र कहा है, क्योंकि वे शाक्यवंश के थे और उनका जन्म शाक्य देश (कपिलवस्तु) में हुआ था। इसी से उनके अनुयायी श्रमण शाक्यपुत्रीय-श्रमण कहे जाते थे (बुद्धचर्या/

८७. देखिए, इसी प्रकाश का शीर्षक क्र.८, एकसाटिकसुत्त / अंगुत्तरनिकायपालि (५.१.८ निगण्ठ / भा.३ / पृ.९३-९४) का उद्धृत अंश।

८८. "अपरेसु आजीविकेसु पि मे कटे इमे विवधा होसंतीति। निगंठेसु पि मे कटे इमे विवधा होसंतीति।" जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द / भा.३ / लेख क्र. १।

८९. क— कुण्डपुरपुरुणिम्मल सिद्धत्थखत्तियकुलस्स पहुस्स। तिसलाए देवीए देवीसदेवेसपूजए ॥ २३ ॥ जयधवला / क.प्र. / भा.१ / पृ. ७८।
ख— णाहंणाणीसु वि वीरणाथ ॥ ४ / ५७७ ॥ सिरिपुरपासणाही।
ग— उसभजो णाहवंसीओ। (दसभक्ति / पृ.२४८)।

९०. "णायपुत्ते महावीरे एसमाहिमुत्तमे।" सूत्रकृतांग १ / ६ / १।

पृ. ५५१)। इसी तरह महावीर भी अपनी जाति तथा वंश के आधार पर चातुर्याम कहे जाते थे और उनके अनुयायी निर्ग्रन्थ 'चातुर्याम निर्ग्रन्थ' कहे जाते थे (बुद्धचर्या/ पृ. ४८१)" (जै.सा.इ./पू.पी./पृ. २२३-२२४)।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि निर्ग्रन्थधर्मों के अनुयायी श्रावक का पुत्र होने से ही सत्यक को निर्ग्रन्थपुत्र कहा गया है, न कि स्वयं के निर्ग्रन्थधर्मानुयायी होने से। यदि स्वयं निर्ग्रन्थ श्रमण होता तो उसे निर्ग्रन्थ ही कहा जाता, निर्ग्रन्थपुत्र नहीं। सत्यक के निर्ग्रन्थ श्रावक होने के अन्य प्रमाण भी हैं, यथा—

१. भगवान् बुद्ध से वाद करते समय सत्यक के मुँह से पसीने की बूँदें टपकने लगती हैं और उसके उत्तरासंग (उत्तरीय=दुपट्टे) को भेद कर भूमि पर गिर जाती हैं। उसकी इस दशा को लक्षित करते हुए बुद्ध उससे कहते हैं—"तुट्ठो खो पन, अग्गिवेस्सन, अप्पेकच्चानि बेदकुतिसञ्चि गलदाजुनानि, उत्तरासङ्गं विनिधिधिला भूमियं पतिट्ठितानि।" (सुत्तपिटक/मज्झिमनिकायपालि/१.मूलपण्णासक/पृ.३२१/ पेंढ्ड भाली, वाराणसी)।

इससे ज्ञात होता है कि सत्यक दुपट्टा ओढ़े हुआ था और दुपट्टा ओढ़ने से सिद्ध होता है कि वह अधोवस्त्र भी धारण किये होगा। इससे उसका एक श्रावक (एकवस्त्रधारी) न होना सुनिश्चित होता है। यह पहला प्रमाण है कि सत्यक न तो मुनि श्री कल्याणविजय जी की मान्यतानुसार एक सवस्त्री श्वेताम्बर साधु था, न बाबू जगतप्रसाद जी के मतानुसार निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का 'एलक' नामक उत्कृष्ट श्रावक, अपितु वह एक सामान्य गृहस्थ था।

२. सत्यक गौतम बुद्ध को भोजन के लिए अपने घरौंदे में आमन्त्रित करता है और चना प्रकार के स्वादिष्ट खाद्य व्यंजन बनवाकर बुद्ध तथा उनके सम्पूर्ण भिक्षुसंघ को अपने हाथ से परोसकर भोजन कराता है। यह बात निम्नलिखित शब्दों में कही गई है—

"अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो सके आरामे पणीतं खादनीयं भोजनीयं पटियादापेत्वा भगवतो कालं आरोचापेसि—"कालो, भो गोतम, निट्ठितं भत्तं" ति। अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय येन सच्चकस्स निगण्ठपुत्तस्स आरामो तेनुपसङ्कमि। उपसङ्कमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि सद्धिं भिक्खुसङ्घेन। अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो बुद्धप्पमुखं भिक्खुसङ्घं पणीतेन खादनीयेन भोजनीयेन सहत्था सन्तप्पेसि सम्पवारेसि।"(सुत्तपिटक/मज्झिमनिकायपालि/१.मूलपण्णासक/ पृ.३२५/पेंढ्ड-भाली, वाराणसी)।

किसी निर्ग्रन्थ श्रमण का न तो अपना कोई घर होता है, न कोई बागबगीचा, न झाड़ा बरतन और नौकर-चाकर आदि परिग्रह कि एक बहुत बड़े भिक्षुसंघ को भोजन करा सके। यह सब एक गृहस्थ के ही हो सकता है। कोई श्रमण किसी को अपने हाथ से भोजन भी नहीं परोसता। अतः यह दूसरा प्रमाण है कि सत्यक श्रमण नहीं था, एक सामान्य गृहस्थ था।

३. निर्ग्रन्थश्रमण तो क्या, वह निर्ग्रन्थश्रावक का पुत्र होते हुए भी स्वयं निर्ग्रन्थों का अनुयायी नहीं था, क्योंकि वह गौतम बुद्ध से स्वयं कहता है कि मैंने मक्खलि गोसाल, अजित केसकम्बल, पकुध कच्चायन, सञ्जय बेलट्ठपुत्त और निगण्ठनाटपुत्त से भी शास्त्रार्थ (वाद) किया था—

"अभिजानामहं, भो गोतम, मक्खलिं गोसालं --- पे०--- अजितं केसकम्बलं --- पकुधं कच्चायनं--- सञ्जयं बेलट्ठपुत्तं ---निगण्ठं नाटपुत्तं वादेन वादं समारोपिता। सो पि मया वादेन वादं समारुळ्हो अञ्ञेनञ्ञं पटिचरति, बहिद्धा कथं अपनामेति, कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पातुकरोति।"(महायान्वकसुत्त/मज्झिम-निकायपालि/१. मूलपण्णासक/ पृ. ३४५ / पेंढ्डभाली, वाराणसी)।

जो भगवान् महावीर से भी शास्त्रार्थ कर सकता है, वह उनका शिष्य भी नहीं हो सकता, तब उनके निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का श्रमण होने की तो बात ही दूर। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध नामक ग्रन्थ में कहा है कि "सच्चक एक जैनी का पुत्र होते हुए भी जैन नहीं है।" (पृ.२०१)। उन्होंने यह भी लिखा है कि "सच्चक का यह कथन तथ्य नहीं समझ कि उसने महावीर स्वामी को वाद (शास्त्रार्थ) में पराजित किया था, क्योंकि वह स्वयं महात्मा बुद्ध से 'वाद' में पराजित हुआ है।" (पृ. २०१)।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निगण्ठपुत्त सच्चक निर्ग्रन्थों के अनुयायी श्रावक का पुत्र था, और निर्ग्रन्थश्रावक का पुत्र होते हुए भी स्वयं निर्ग्रन्थश्रावक नहीं था, अपितु एक अनिर्ग्रन्थ गृहस्थ था। उसमें विशेषता सिर्फ यह थी कि वह वादपण्डित अर्थात् शास्त्रार्थप्रवीण था।[९१] अतः मुनि कल्याणविजय जी की यह कल्पना धारणापूर्ण है कि सच्चक श्रमण था।

चूँकि सच्चक निर्ग्रन्थ श्रमण नहीं था, और न किसी निर्ग्रन्थ श्रमण का पुत्र ही था, फिर भी उसे निर्ग्रन्थपुत्र कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि यह निर्ग्रन्थों

९१. "जेन खो पन समयेन सच्चको निग्गण्ठपुत्तो वेसालियं पटिवसति भस्सवादको लोहिच्चवादो सङ्घसम्मतो गणसम्मतो।" सुत्तपिटक/मज्झिमनिकायपालि/१. मूलपण्णासक/ पृ. ३१३/ पेंढ्डभाली, वाराणसी।

११
अचेल काश्यप द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार

एक बार अचेल काश्यप गौतम बुद्ध के पास जाकर पूछते हैं—"भो गौतम! लोग कहते हैं कि श्रमण गौतम सभी प्रकार की तपश्चर्याओं को सिद्ध करते हैं[८३] और कहते हैं कि वस्त्रग्रहणों के ये आचार धर्मपथ और ब्राह्मणधर्म के द्योतक हैं या नहीं?"[८४] तदनन्तर वे वस्त्रग्रहणों के आचार का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"अचेलको होति मुत्ताचारो, हत्थापलेखनो, न एहिभद्दन्तिको, नतिट्ठभद्दन्तिको, नाभिहटं, न उद्दिस्सकतं न निमन्तनं सादियति। सो न कुम्भिमुखा पटिग्गण्हाति, न कळोपिमुखा पटिग्गण्हाति, न एळकमन्तरं, न दण्डमन्तरं, न मुसलमन्तरं, न द्विन्नं भुञ्जमानानं, न गब्भिनिया, न पायमानाय, न पुरिसन्तरगताय, न सङ्कित्तीसु, न यत्थ सा उपट्ठितो होति, न यत्थ मक्खिका भनभनायन्ती, न मच्छं न मंसं, न सुरं न मेरयं न थुसोदकं पिवति। सो एकागारिको वा होति एकालेपिको, द्वागारिको वा होति द्वालेपिको, सत्तागारिको वा होति सत्तालेपिको; एकिस्सा पि दत्तिया यापेति, द्वीहि पि दत्तीहि यापेति, सत्तहि पि दत्तीहि यापेति; एकाहिकं पि आहारं आहारेति, द्वीहिकं पि आहारं आहारेति, सत्ताहिकं पि आहारं आहारेति; इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियायभत्तभोजनानुयोगमनुयुत्तो विहरति।' (महासीहनादसुत्त / दीघनिकायपालि / भा.१ / पृ.१७६-१७७)।

गौतम बुद्ध इस आचार को श्रमण-ब्राह्मणों में शून्य बताते हैं।[८५] उन्होंने भी कुछ समय के लिए इस आचार को अपनाया था। वे अपने शिष्य सारिपुत्र को यह बात बताते हुए कहते हैं—

"तत्रास्सु ये इदं, सारिपुत्र, तपस्मिनाम होति-अचेलको होमि मुत्ताचारो हत्थापलेखनो, न एहिभद्दन्तिको, न तिट्ठभद्दन्तिको, नाभिहटं, न उद्दिस्सकतं न निमन्तनं सादयामि --- इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियायभत्तभोजनानुयोगमनुयुत्तो विहरामि।" (महासीहनादसुत्त / मज्झिमनिकायपालि-१.मूलपण्णासक/पृ. ११८-११९ पीढभाणके, पालनमो)।

---

८३. "एकमिदं, भो अचेल कस्सप, भासितं एतमत्थं—'मुत्ते रतो, भो गोतम! तपस्की गोतमो सब्बे तपे गाहती।" महासीहनादसुत्त / दीघनिकायपालि / भाग १/ पृ. १७१।

८४. "इमे पि खो, आवुसो गोतम! तित्थियकम्मा एतेसं वत्थगहणानं सामञ्ञमत्तमत्थि न ब्रह्मञ्ञं-संविज्जति।" महासीहनादसुत्त / दीघनिकायपालि / भाग १/पृ. १७८।

८५. वही/पृ.१७८।

तुलना करने पर हम पाते हैं कि निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल कस्सप दोनों के द्वारा वर्णित आचार शब्दशः समान रखते हैं। अतः अचेल कस्सप द्वारा वर्णित आचार भी आजीविक साधुओं का ही है। बाबू कामताप्रसाद जी ने इसे निर्ग्रन्थों का आचार बतलाया है,[८६] जिसका मुनि श्री कल्याणविजय जी ने खण्डन किया है। वे लिखते हैं—

"बौद्धशास्त्रकार ने साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविकसंघ के नायक गोशालक तथा उनके शिष्य नन्दवच्छ और किससंकिच्च के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निर्ग्रंथसच्चक ने वर्णन किया है।" (व.श्र.स./पृ. ३३१)।

यद्यपि बाबू कामताप्रसाद जी ने निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक द्वारा वर्णित आचार को नहीं, अपितु अचेल कस्सप द्वारा वर्णित आचार को निर्ग्रन्थ मुनियों का आचार कहा है,[८७] तथापि यह आजीविक साधुओं का ही आचार है, जैसाकि ऊपर दर्शाये गये तथ्य से स्पष्ट है। इसीलिए, मुनि जी का उसे आजीविकसंघ के साधुओं का आचार कहना उचित ही है।

किन्तु मुनि जी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि "यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सचमुच स्वयं अचेलक और हाथ में भोजन करनेवाला होता तो, यह आजीविक भिक्षुओं का 'हाथ चाटनेवाला' आदि कहकर उपहास कभी न करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रपात्र अवश्य रखते थे।" (व.श्र.स./पृ.३३३)।

मुनि जी का यह कथन प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है, क्योंकि अचेल कस्सप ('अचेलो कस्सपो'—प.नि.८३) ने अचेलक होते हुए भी अचेलक आजीविकों को "हाथ चाटने वाला' आदि कहा है। इससे द्योतित होता है कि अचेल कस्सप यद्यपि स्वयं अचेलक थे, और पाणिपात्रभोजी भी थे, तथापि भोजन के अवसर पर हाथ नहीं चाटते थे, न स्वच्छन्द आचरण करते थे और न ही वे उन साधुओं में से थे, जो कभी-कभी पन्द्रह-पन्द्रह दिनों तक भोजन नहीं करते थे, किन्तु कभी-कभी खाद्य, स्वाद्य, पेय्य और लेप्य पदार्थों का अतितृप्ति से सेवन करते थे। निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल कस्सप ने आजीविकों की इन्हीं अतिभोजनीय प्रवृत्तियों को अनुचित बतलाया है, अचेलत्व और पाणितलभोजित्व को नहीं। अतः आजीवक साधुओं की उक्त अतिभोजीय और शैथिल्यपूर्ण प्रवृत्तियों को देखने से निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल कस्सप का श्वेताम्बर-साधु होना सिद्ध नहीं होता। चूँकि दोनों ने आजीवकों के अतिभोजीय और शैथिल्यपूर्ण आचार का वर्णन किया है, इससे सिद्ध होता है कि वे एक ही सम्प्रदाय के थे। अचेल कस्सप तो निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के नग्न साधु ही थे, निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक

---

८६. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध/पृ. ६१।

"किंसि पन हे, अग्गिवेस्सन! कायसंवरा सुत्त" न्ति?

"सेय्यथापि—नन्दो वच्छो, किसो सङ्कुच्चो, मक्खलि गोसालो—एते हि भो गोतम! अचेलका मुत्ताचारा हत्थापलेखना, न एहिभद्दन्तिका न तिट्ठभद्दन्तिका, न आभिहटं, न उद्दिस्सकतं, न निमन्तनं सादियन्ति, ते न कुम्भिमुखा पटिग्गण्हन्ति, न कळोपिमुखा पटिग्गण्हन्ति, न एळकमन्तरं न दण्डमन्तरं न मुसलमन्तरं, न द्विन्नं भुञ्जमानानं, न गब्भिनिया न पायमानाय न पुरिसन्तरगताय, न सङ्कित्तीसु, न यत्थ सा उपट्ठितो होति, न यत्थ मक्खिका सण्डसण्डचारिनी, न मच्छं न मंसं न सुरं न मेरयं न थुसोदकं पिवन्ति। ते एकागारिका वा होन्ति एकालोपिनो, द्वागारिका वा होन्ति द्वालोपिका---पे०---सत्तागारिका वा होन्ति सत्तालोपिका। एकिस्सा पि दत्तिया यापेन्ति, द्वीहि पि दत्तीहि यापेन्ति---पे०---सत्तहि पि दत्तीहि यापेन्ति। एकाहिकं पि आहारं आहारेन्ति, द्वीहिकं पि आहारं आहारेन्ति---पे०---सत्ताहिकं पि आहारं आहारेन्ति। इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियायभत्तभोजनानुयोगमनुयुत्ता विहरन्ती" ति।

"किं पन हे अग्गिवेस्सन! तक्कस्सेव यापेन्ती" ति?

"नो हिदं, भो गोतम! अप्पेकदा, भो गोतम! उळारानि उळारानि खादनीयानि खादन्ति, उळारानि उळारानि भोजनानि भुञ्जन्ति, उळारानि उळारानि मायनीयानि सायन्ति, उळारानि उळारानि पानानि पिवन्ति। से इमं कायं थलं गाहेन्ति नया, बृंहेन्ति नया, गेहेन्ति नया" ति।

"यं खो हे, अग्गिवेस्सन! पुरिमं पहाय पच्छा, उपचिनति, एवं इमस्स कायस्स आनुपच्चयता होति।" (महासच्चकसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूल पण्णासक / पृ. ३२६-३२८/ बौद्धभारती, वाराणसी)।

अनुवाद

एक ओर बैठे हुए निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ने भगवान् (गौतम बुद्ध) से कहा—"हे गौतम! बुद्ध अच्छे-ब्राह्मण ऐसे हैं, जो कायसाधना में लगे रहते हैं, चैतसिक साधना नहीं करते।"

गौतम ने पूछा—"भो अग्निवेश![८०] तुमने कैसी कायसाधना के विषय में सुना है?"

सच्चक बोला—"जैसे नन्द वत्स, कृश संकुल्य, मक्खलि गोशाल, ये नग्न रहते हैं, स्वच्छन्द आचरण करते हैं, भोजन के बाद हाथापलेखना करते हैं अर्थात् हाथ

८०. सच्चक का सम्बोधन।

चाटते हैं[८१] ये बुलाकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, 'ठहरिये' कहकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, दूसरे के द्वारा लायी गयी भिक्षा नहीं लेते, अपने उद्देश्य से बनाई गई भिक्षा नहीं लेते, निमंत्रित करके दी गई भिक्षा नहीं लेते, हाँडी से उड़ेलकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, कड़ाही से उड़ेलकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, दो चटाई, दो दण्डों और दो मूसलों के बीच से लायी गयी भिक्षा नहीं लेते, भोजन करते हुए दो व्यक्तियों के बीच से लायी गयी भिक्षा नहीं लेते, गर्भिणी और दूध पिलाती हुई स्त्री से भिक्षा नहीं लेते, वे पुरुषों के बीच में आती हुई स्त्री से भिक्षा ग्रहण नहीं करते, चन्दा करके भिक्षा देनेवाली स्त्रियों (सङ्कित्तीसु) से भिक्षा नहीं लेते, जहाँ कुत्ता (सा-श्वा) खड़ा होता है, वहाँ से भिक्षा नहीं लेते, जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही हों, वहाँ से भिक्षा नहीं लेते, मांस-मछली, सुरा, मैरेय और तुषोदक (चावल से बनी शराब) ग्रहण नहीं करते। ये एक ही घर से भिक्षा लेते हैं या एक ही ग्रास खाते हैं, दो घरों से भिक्षा लेते हैं या दो ग्रास खाते हैं, सात घरों से भिक्षा लेते हैं या सात ग्रास खाते हैं। ये एक कबलुल-भिक्षा से भी निर्वाह कर लेते हैं, दो कबलुल-भिक्षा से भी और सात कबलुल-भिक्षा से भी। ये एक दिन में एक बार भी आहार करते हैं, दो दिन में एक बार भी और सात दिन में एक बार भी। कभी-कभी पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के बाद भी आहार लेते हैं।"

गौतम बुद्ध पूछते हैं—"हे अग्निवेश! क्या इतने से ही उनका निर्वाह हो जाता है?

सच्चक उत्तर देता है—"ऐसा नहीं है गौतम! वे कभी-कभी प्रभूतखाद्य[८२] में खाद्य पदार्थ खाते हैं, प्रभूतभोज में भोज्य पदार्थों का भोजन करते हैं, प्रभूतपान में पेय पदार्थों का स्वाद लेते हैं और प्रभूतमद्य में पेय पदार्थों का पान करते हैं। इससे उनके शरीर की वृद्धि बढ़ती रहती है, वे पुष्ट एवं बलवान् होते रहते हैं।

गौतम कहते हैं—"यह तो पहले त्याग करना और फिर ग्रहण करना है। इस तरह तो शरीर कभी दुबला और कभी मोटा हो जाता है।" (अनुवादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री)। इस आधार को निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ने शब्दशब्दों में नन्द वत्स, कृश संकुल्य और मक्खलि गोशाल का आचार बतलाया है, जो आजीविक-सम्प्रदाय के थे।

८१. हत्थापलेखना - भोजन के बाद हाथ चाटना (पालि-हिन्दी कोश)।
८२. उळारानि-उळारानि (उदारानि-उदारानि) - प्रभूत मात्रा में (पालि-हिन्दी कोश)।